श्री चन्द्रर्षि महत्तर प्रणीत

पंचसंग्रह

[उपशमनादि करणत्रय-प्ररूपणा अधिकार]

(मूल, शब्दार्थ, विवेचन युक्त)

हिन्दी व्याख्याकार

श्रमणसूर्य प्रवर्तक मरुधरकेसरी

श्री मिश्रीमल जी महाराज

दिशा निदेशक

मरुधरारत्न प्रवर्तक मुनिश्री रूपचन्दजी म० 'रजत'

सम्प्रेरक

मरुधराभूषण श्री सुकनमुनि

सम्पादक

देवकुमार जैन

प्रकाशक

आचार्य श्री रघुनाथ जैन शोध संस्थान, जोधपुर

□ श्री चन्द्रर्षि महत्तर प्रणीत
पचसग्रह (६)
(उपशमनादि करणत्रय-प्ररूपणा अधिकार)

□ हिन्दी व्याख्याकार
स्व० मरुधरकेसरी प्रवर्तक मुनि श्री मिश्रीमल जी महाराज

□ दिशा निदेशक
मरुधरारत्न प्रवर्तक मुनि श्री रूपचन्द जी म० 'रजत'

□ सयोजक सप्रेरक
मरुधराभूषण श्री सुकनमुनि

□ सम्पादक
देवकुमार जैन

□ प्राप्तिस्थान
श्री मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति
पीपलिया वाजार, ब्यावर (राजस्थान)

□ प्रथमावृत्ति
वि० स० २०४२ कार्तिक, नवम्बर १९८५

लागत से अल्पमूल्य १०/- दस रुपया सिर्फ

□ मुद्रण
श्रीचन्द सुराना 'सरस' के निदेशन मे
एन० के० प्रिंटर्स, आगरा

जैनदर्शन का मर्म समझना हो तो 'कर्मसिद्धान्त' को समझना अत्यावश्यक है। कर्म-सिद्धान्त का सर्वांगीण तथा प्रामाणिक विवेचन 'कर्मग्रन्थ' (छह भाग) मे बहुत ही विशद रूप से हुआ है, जिनका प्रकाशन करने का गौरव हमारी समिति को प्राप्त हुआ। कर्मग्रन्थ के प्रकाशन से कर्मसाहित्य के जिज्ञासुओ को बहुत लाभ हुआ तथा अनेक क्षेत्रो से आज उनकी माग बराबर आ रही है।

कर्मग्रन्थ की भाँति ही 'पचसग्रह' ग्रन्थ भी जैन कर्मसाहित्य मे अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसमे भी विस्तारपूर्वक कर्म-सिद्धान्त के समस्त अगो का विवेचन हुआ है।

पूज्य गुरुदेव श्री मरुधरकेसरी मिश्रीमल जी महाराज जैनदर्शन के प्रौढ विद्वान और सुन्दर विवेचनकार थे। उनकी प्रतिभा अद्भुत थी, ज्ञान की तीव्र रुचि अनुकरणीय थी। समाज मे ज्ञान के प्रचार-प्रसार मे अत्यधिक रुचि रखते थे। यह गुरुदेवश्री के विद्यानुराग का प्रत्यक्ष उदाहरण है कि इतनी वृद्ध अवस्था मे भी पचसग्रह जैसे जटिल और विशाल ग्रन्थ की व्याख्या, विवेचन एव प्रकाशन का अद्भुत साहसिक निर्णय उन्होने किया और इस कार्य को सम्पन्न करने की समस्त व्यवस्था भी करवाई।

जैनदर्शन एव कर्मसिद्धान्त के विशिष्ट अभ्यासी श्री देवकुमार जी जैन ने गुरुदेवश्री के मार्गदर्शन मे इस ग्रन्थ का सम्पादन कर प्रस्तुत किया है। इसके प्रकाशन हेतु गुरुदेवश्री ने प्रसिद्ध साहित्यकार श्रीयुत श्रीचन्द जी सुराना को जिम्मेदारी सौपी और वि० स० २०३९ के आश्विन मास मे इसका प्रकाशन-मुद्रण प्रारम्भ कर दिया

गया । गुरुदेवश्री ने श्री सुराना जी को दायित्व सौंपते हुए फरमाया 'मेरे शरीर का कोई भी भरोसा नहीं है, इस कार्य को शीघ्र सम्पन्न कर लो'। उस समय यह बात सामान्य लग रही थी। किसे ज्ञात था कि गुरुदेवश्री हमे इतनी जल्दी छोडकर चले जायेगे। किंतु क्रूर काल की विडम्बना देखिये कि ग्रन्थ का प्रकाशन चालू ही हुआ था कि १७ जनवरी १९८४ को पूज्य गुरुदेव के आकस्मिक स्वर्गवास से सर्वत्र एक स्तब्धता व रिक्तता-सी छा गई। गुरुदेव का व्यापक प्रभाव समूचे सघ पर था और उनकी दिवगति से समूचा श्रमणसघ ही अपूरणीय क्षति अनुभव करने लगा।

पूज्य गुरुदेवश्री ने जिस महाकाय ग्रन्थ पर इतना श्रम किया और जिसके प्रकाशन की भावना लिये ही चले गये, वह ग्रन्थ अब पूज्य गुरुदेवश्री के प्रधान शिष्य मरुधराभूषण श्री सुकनमुनि जी महाराज के मार्गदर्शन मे सम्पन्न हो रहा है, यह प्रसन्नता का विषय है। श्रीयुत सुराना जी एव श्री देवकुमार जी जैन इस ग्रन्थ के प्रकाशन मुद्रण सम्बन्धी सभी दायित्व निभा रहे है और इसे शीघ्र ही पूर्ण कर पाठको के समक्ष रखेंगे, यह दृढ विश्वास है।

आचार्य श्री रघुनाथ जैन शोध सस्थान अपने कार्यक्रम मे इस ग्रन्थ को प्राथमिकता देकर सम्पन्न करवाने मे प्रयत्नशील है।

आशा है जिज्ञासु पाठक लाभान्वित होगे।

मन्त्री

आचार्य श्री रघुनाथ जैन शोध सस्थान

जोधपुर

आमुख

जैनदर्शन के सम्पूर्ण चिन्तन, मनन और विवेचन का आधार आत्मा है। आत्मा स्वतन्त्र शक्ति है। अपने सुख-दु ख का निर्माता भी वही है और उसका फल-भोग करने वाला भी वही है। आत्मा स्वय मे अमूर्त है, परम विशुद्ध है, किन्तु वह शरीर के साथ मूर्तिमान बनकर अशुद्ध दशा मे ससार मे परिभ्रमण कर रहा है। स्वय परम आनन्दस्वरूप होने पर भी सुख दुख मे चक्र मे पिस रहा है। अजर-अमर होकर भी जन्म-मृत्यु के प्रवाह मे बह रहा है। आश्चर्य है कि जो आत्मा परम शक्तिसम्पन्न है, वही दीन-हीन, दु खी, दरिद्र के रूप मे ससार मे यातना और कष्ट भी भोग रहा है। इसका कारण क्या है ?

जैनदर्शन इस कारण की विवेचना करते हुए कहता है—आत्मा को ससार मे भटकाने वाला कर्म है। कर्म ही जन्म-मरण का मूल है—कम्म च जाई मरणस्स मूल। भगवान श्री महावीर का यह कथन अक्षरश सत्य है, तथ्य है। कर्म के कारण ही यह विश्व विविध विचित्र घटनाचक्रो मे प्रतिपल परिवर्तित हो रहा है। ईश्वरवादी दर्शनो ने इस विश्ववैचित्र्य एव सुख-दु ख का कारण जहाँ ईश्वर को माना है, वहाँ जैनदशन ने समस्त सुख-दु ख एव विश्व वैचित्र्य का कारण मूलत जीव एव उसके साथ सबद्ध कर्म को माना है। कर्म स्वतन्त्र रूप से कोई शक्ति नही है, वह स्वयं मे पुद्गल है, जड है। किन्तु राग-द्वेष-वशवर्ती आत्मा के द्वारा कर्म किये जाने पर वे इतने बलवान और शक्ति-सम्पन्न बन जाते है कि कर्ता को भी अपने बन्धन मे बाध लेते हैं। मालिक को भी नौकर की तरह नचाते है। यह कर्म की बडी विचित्र शक्ति है। हमारे जीवन और जगत के समस्त परिवर्तनो का

यह मुख्य बीज कर्म क्या है ? इसका स्वरूप क्या है ? इसके विविध परिणाम कैसे होते है ? यह बडा ही गम्भीर विषय है। जैनदर्शन मे कर्म का बहुत ही विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। कर्म का सूक्ष्मातिसूक्ष्म और अत्यन्त गहन विवेचन जैन आगमो मे और उत्तरवर्ती ग्रन्थो मे प्राप्त होता है। वह प्राकृत एव सस्कृत भाषा मे होने के कारण विद्वद्भोग्य तो है, पर साधारण जिज्ञासु के लिए दुर्बोध है। थोकडो मे कर्मसिद्धान्त के विविध स्वरूप का वर्णन प्राचीन आचार्यो ने गूँथा है, कण्ठस्थ करने पर साधारण तत्त्व-जिज्ञासु के लिए वह अच्छा ज्ञानदायक सिद्ध होता है।

कर्मसिद्धान्त के प्राचीन ग्रन्थो मे कर्मग्रन्थ और पचसग्रह इन दोनो ग्रन्थो का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनमे जैनदर्शन-सम्मत समस्त कर्मवाद, गुणस्थान, मार्गणा, जीव, अजीव के भेद-प्रभेद आदि समस्त जैनदर्शन का विवेचन प्रस्तुत कर दिया गया है। ग्रन्थ जटिल प्राकृत भाषा मे है और इनकी सस्कृत मे अनेक टीकाएँ भी प्रसिद्ध है। गुजराती मे भी इनका विवेचन काफी प्रसिद्ध है। हिन्दी भाषा मे कर्मग्रन्थ के छह भागो का विवेचन कुछ वर्ष पूर्व ही परम श्रद्धेय गुरुदेवश्री के मार्गदर्शन मे प्रकाशित हो चुका है, सर्वत्र उनका स्वागत हुआ। पूज्य गुरुदेवश्री के मार्गदर्शन मे पचसग्रह (दस भाग) का विवेचन भी हिन्दी भाषा मे तैयार हो गया और प्रकाशन भी प्रारम्भ हो गया, किन्तु उनके समक्ष एक भी नही आ सका, यह कमी मेरे मन को खटकती रही, किन्तु निरुपाय ! अब गुरुदेवश्री की भावना के अनुसार ग्रन्थ पाठको के समक्ष प्रस्तुत है। आशा है, इसमे सभी लाभान्वित होगे।

—सुकनमुनि

सम्पादकीय

श्रीमद्देवेन्द्रसूरि विरचित कर्मग्रन्थो का सम्पादन करने के सन्दर्भ मे जैन कर्मसाहित्य के विभिन्न ग्रन्थो के अवलोकन करने का प्रसग आया। इन ग्रन्थो मे श्रीमदाचार्य चन्द्रर्षि महत्तरकृत 'पचसग्रह' प्रमुख है।

कर्मग्रन्थो के सम्पादन के समय यह विचार आया कि पचसग्रह को भी सर्वजन सुलभ, पठनीय बनाया जाये। अन्य कार्यो मे लगे रहने मे तत्काल तो कार्य प्रारम्भ नही किया जा सका। परन्तु विचार तो था ही और पाली (मारवाड) मे विराजित पूज्य गुरुदेव मरुधरकेसरी, श्रमणसूर्य श्री मिश्रीमल जी म सा, की सेवा मे उपस्थित हुआ एव निवेदन किया—

भन्ते ! कर्मग्रन्थो का प्रकाशन तो हो चुका है, अब इसी क्रम मे पंचसग्रह को भी प्रकाशित कराया जाये।

गुरुदेव ने फरमाया—विचार प्रशस्त है और चाहता भी हूँ कि ऐसे ग्रन्थ प्रकाशित हो, मानसिक उत्साह होते हुए भी शारीरिक स्थिति साथ नही दे पाती है। तब मैंने कहा—आप आदेश दीजिये। कार्य करना ही है तो आपके आशीर्वाद से सम्पन्न होगा ही, आपश्री की प्रेरणा एव मार्गदर्शन से कार्य शीघ्र ही सम्पन्न होगा।

'तथास्तु' के मागलिक के साथ ग्रन्थ की गुरुता और गम्भीरता को सुगम बनाने हेतु अपेक्षित मानसिक श्रम को नियोजित करके कार्य प्रारम्भ कर दिया। 'शनै कथा' की गति से करते-करते आधे से अधिक ग्रन्थ गुरुदेव के बगडी सज्जनपुर चातुर्मास तक तैयार करके सेवा मे उपस्थित हुआ। गुरुदेवश्री ने प्रमोदभाव व्यक्त कर फरमाया चरैवेति-चरैवेति ।

इसी बीच शिवशर्मसूरि विरचित 'कम्मपयडी' (कर्मप्रकृति) ग्रन्थ के सम्पादन का अवसर मिला। इसका लाभ यह हुआ कि बहुत से जटिल माने जाने वाले स्थलो का समाधान सुगमता से होता गया।

अर्थबोध की सुगमता के लिए ग्रन्थ के सम्पादन मे पहले मूलगाथा और यथाक्रम शब्दार्थ गाथार्थ के पश्चात् विशेषार्थ के रूप मे गाथा के हार्द को स्पष्ट किया है। यथास्थान ग्रन्थातरो, मतान्तरो के मन्तव्यो का टिप्पण के रूप मे उल्लेख किया है।

इस समस्त कार्य की सम्पन्नता पूज्य गुरुदेव के वरद आशीर्वादो का सुफल है। एतदर्थ कृतज्ञ हू। साथ ही मरुधरारत्न श्री रजतमुनि जी एव मरुधराभूषण श्री सुकनमुनिजी का हार्दिक आभार मानता हूँ कि कार्य की पूर्णता के लिए प्रतिसमय प्रोत्साहन एव प्रेरणा का पाथेय प्रदान किया।

ग्रन्थ की मूल प्रति प्राप्ति के लिए श्री लालभाई दलपतभाई सस्कृति विद्यामन्दिर अहमदाबाद के निदेशक एव साहित्यानुरागी श्री दलसुखभाई मालवणिया का सस्नेह आभारी हू। साथ ही वे सभी धन्यवादार्ह है, जिन्होने किसी न किसी रूप मे अपना-अपना सहयोग दिया है।

ग्रन्थ के विवेचन मे पूरी सावधानी रखी है और ध्यान रखा है कि सैद्धान्तिक भूल, अस्पष्टता आदि न रहे एव अन्यथा प्ररूपणा भी न हो जाये। फिर भी यदि कही चूक रह गई हो तो विद्वान पाठको से निवेदन है कि प्रमादजन्य स्खलना मानकर त्रुटि का सशोधन, परि-मार्जन करते हुए सूचित करे। उनका प्रयास मुझे ज्ञानवृद्धि मे सहा-यक होगा। इसी अनुग्रह के लिए सानुरोध आग्रह है।

भावना तो यही थी कि पूज्य गुरुदेव अपनी कृति का अवलोकन करते, लेकिन सम्भव नही हो सका। अत 'कालाय तस्मै नम' के साथ-साथ विनम्र श्रद्धाजलि के रूप मे—

त्वदीय वस्तु गोविन्द ! तुभ्यमेव समर्प्यते ।

के अनुसार उन्ही को सादर समर्पित है।

खजाची मोहल्ला
बीकानेर, ३३४००१

विनीत
देवकुमार जैन

श्रमणसघ के भीष्म-पितामह

श्रमणसूर्य स्व. गुरुदेव श्री मिश्रीमल जी महाराज

स्थानकवासी जैन परम्परा के ५०० वर्षो के इतिहास मे कुछ ही ऐसे गिने-चुने महापुरुष हुए है जिनका विराट व्यक्तित्व अनन्त असीम नभोमण्डल की भाति व्यापक और सीमातीत रहा हो। जिनके उपकारो से न सिर्फ स्थानकवासी जैन, न सिर्फ श्वेताम्बर जैन, न सिर्फ जैन किन्तु जैन-अजैन, वालक-वृद्ध, नारी पुरुप, श्रमण-श्रमणी सभी उपकृत हुए है और सब उस महान् विराट व्यक्तित्व की शीतल छाया से लाभान्वित भी हुए है। ऐसे ही एक आकाशीय व्यक्तित्व का नाम है श्रमणसूर्य प्रवर्तक मरुधरकेसरी श्री मिश्रीमल जी महाराज।

पता नही वे पूर्वजन्म की क्या अखूट पुण्याई लेकर आये थे कि बाल सूर्य की भाति निरन्तर तेज-प्रताप-प्रभाव-यश और सफलता की तेजस्विता, प्रभास्वरता से वढते ही गये, किन्तु उनके जीवन की कुछ विलक्षणता यही है कि सूर्य मध्यान्ह बाद क्षीण होने लगता है, किन्तु यह श्रमणसूर्य जीवन के मध्यान्होत्तर काल मे अधिक अधिक दीप्त होता रहा, ज्यो-ज्यो यौवन की नदी बुढापे के सागर की ओर वढती गई त्यो-त्यो उसका प्रवाह तेज होता रहा, उसकी धारा विशाल और विशालतम होती गई, सीमाएँ व्यापक वनती गई प्रभाव-प्रवाह सौ सौ धाराएँ बनकर गाव-नगर-वन-उपवन सभी को तृप्त परितृप्त करता गया। यह सूर्य डूबने की अन्तिम घडी, अंतिम क्षण तक तेज से दीप्त रहा, प्रभाव मे प्रचण्ड रहा और उसकी किरणो का विस्तार अनन्त असीम गगन के दिक्कोणो के छूता रहा।

जैसे लड्डू का प्रत्येक दाना मीठा होता है, अगूर का प्रत्येक अश मधुर होता है, इसी प्रकार गुरुदेव श्री मिश्रीमल जी महाराज का

जीवन, उनके जीवन का प्रत्येक क्षण, उनकी जीवनधारा का प्रत्येक जलविन्दु मधुर मधुरतम जीवनदायी रहा। उनके जीवन-सागर की गहराई मे उतरकर गोता लगाने से गुणो की विविध वहुमूल्य मणिया हाथ लगती हैं तो अनुभव होता है, मानव जीवन का ऐसा कौन सा गुण है जो इस महापुरुष मे नही था। उदारता, सहिष्णुता, दयालुता, प्रभावशीलता, समता, क्षमता, गुणज्ञता, विद्वत्ता, कवित्वशक्ति, प्रवचनशक्ति, अदम्य साहस, अद्‌भुत नेतृत्वक्षमता, सघ-समाज की सरक्षणशीलता, युगचेतना को धर्म का नया बोध देने की कुशलता, न जाने कितने उदात्त गुण व्यक्तित्व सागर मे छिपे थे। उनकी गणना करना असभव नही तो दुःसभव अवश्य ही है। महान तार्किक आचार्य सिद्धसेन के शब्दो में—

कल्पान्तवान्तपयस प्रकटोऽपि यस्मान्
मीयेत केन जलधेर्ननु रत्नराशे

कल्पान्तकाल की पवन से उत्प्रेरित, उचाले खाकर बाहर भूमि पर गिरी समुद्र की असीम अगणित मणिया सामने दीखती जरूर है, किन्तु कोई उनकी गणना नही कर सकता, इसी प्रकार महापुरुषो के गुण भी दीखते हुए भी गिनती से बाहर होते हे।

जीवन रेखाएँ

श्रद्धेय गुरुदेव का जन्म वि० स० १९४८ श्रावण शुक्ला चतुर्दशी को पाली शहर मे हुआ।

पाच वर्ष की आयु मे ही माता का वियोग हो गया। १३ वर्ष की अवस्था मे भयकर बीमारी का आक्रमण हुआ। उस समय श्रद्धेय गुरुदेव श्री मानमलजी म एव स्व गुरुदेव श्री बुधमलजी म ने मगलपाठ सुनाया और चमत्कारिक प्रभाव हुआ, आप शीघ्र ही स्वस्थ हो गये। काल का ग्रास वनते-वनते वच गये।

गुरुदेव के इस अद्‌भुत प्रभाव को देखकर उनके प्रति हृदय की

पडी। इसी बीच गुरुदेवश्री मानमलजी म का वि. स १९७४, माघ वदी ७ को जोधपुर मे स्वर्गवास हो गया। वि स० १९७५ अक्षय तृतया को पूज्य स्वामी श्री बुधमलजी महाराज के कर कमलो से आपने दीक्षारत्न प्राप्त किया।

आपकी बुद्धि बडी विचक्षण थी। प्रतिभा और स्मरणशक्ति अद्‌भुत थी। छोटी उम्र मे ही आगम, थोकडे, सस्कृत, प्राकृत, गणित, ज्योतिष, काव्य, छन्द, अलकार, व्याकरण आदि विविध विषयो का आधिकारिक ज्ञान प्राप्त कर लिया। प्रवचनशैली की ओजस्विता और प्रभावकता देखकर लोग आपश्री के प्रति आकृष्ट होते और यो सहज ही आपका वर्चस्व, तेजस्व बढता गया।

वि स० १९८५ पौष वदि प्रतिपदा को गुरुदेव श्री बुधमलजी म का स्वर्गवास हो गया। अब तो पूज्य रघुनाथजी महाराज की सप्रदाय का समस्त दायित्व आपश्री के कधो पर आ गिरा। किन्तु आपश्री तो सर्वथा सुयोग्य थे। गुरु से प्राप्त सप्रदाय-परम्परा को सदा विकासोन्मुख और प्रभावनापूर्ण ही बनाते रहे। इस दृष्टि से स्थानागसूत्र-वर्णित चार शिष्यो (पुत्रो) मे आपको अभिजात (श्रेष्ठतम) शिष्य ही कहा जायेगा, जो प्राप्त ऋद्धि-वैभव को दिन दूना रात चौगुना बढाता रहता है।

वि स १९९३, लोकाशाह जयन्ती के अवसर पर आपश्री को मरुधरकेसरी पद से विभूषित किया गया। वास्तव मे ही आपकी निर्भीकता और क्रान्तिकारी सिंह गर्जनाएँ इस पद की शोभा के अनुरूप ही थी।

स्थानकवासी जैन समाज की एकता और सगठन के लिए आपश्री के भगीरथ प्रयास श्रमणसघ के इतिहास मे सदा अमर रहेगे। समय-समय पर टूटती कडिया जोडना, सघ पर आये सकटो को दूरदर्शिता के साथ निवारण करना, संत-सतियो की आन्तरिक व्यवस्था को सुधारना, भीतर मे उठती मतभेद की कटुता को दूर करना—यह आपश्री

की ही क्षमता का नमूना है कि वृहत् श्रमणसंघ का निर्माण हुआ, बिखरे घटक एक हो गये।

किन्तु यह बात स्पष्ट है कि आपने सगठन और एकता के साथ कभी सौदेबाजी नही की। स्वय सब कुछ होते हुए भी सदा ही पद-मोह से दूर रहे। श्रमणसघ का पदवी–रहित नेतृत्व आपश्री ने किया और जब सभी का पद-ग्रहण के लिए आग्रह हुआ तो आपश्री ने उस नेतृत्व चादर को अपने हाथो मे आचार्यसम्राट (उस समय उपाचार्य) श्री आनन्दऋषिजी महाराज को ओढा दी। यह है आपश्री की त्याग व निस्पृहता की वृत्ति।

कठोर सत्य सदा कटु होता है। आपश्री प्रारम्भ से ही निर्भीक वक्ता, स्पष्ट चिन्तक और स्पष्टवादी रहे हैं। सत्य और नियम के साथ आपने कभी समझौता नही किया, भले ही वर्षो से साथ रहे अपने कहलाने वाले साथी भी साथ छोड कर चले गये, पर आपने सदा ही सगठन और सत्य का पक्ष लिया। एकता के लिए आपश्री के अगणित बलिदान श्रमणसघ के गौरव को युग-युग तक बढाते रहेगे।

सगठन के बाद आपश्री की अभिरुचि काव्य, साहित्य, शिक्षा और सेवा के क्षेत्र मे बढती रही है। आपश्री की बहुमुखी प्रतिभा से प्रसूत सैकडो काव्य, हजारो पद-छन्द आज सरस्वती के शृगार बने हुए है। जैन राम यशोरसायन, जैन पाडव यशोरसायन जैसे महाकाव्यो की रचना, हजारो कवित्त, स्तवन की सर्जना आपकी काव्यप्रतिभा के बेजोड उदाहरण है। आपश्री की आशुकवि-रत्न की पदवी स्वय मे सार्थक है।

कर्मग्रन्थ (छह भाग) जैसे विशाल गुरु गम्भीर ग्रन्थ पर आपश्री के निदेशन मे व्याख्या, विवेचन और प्रकाशन हुआ जो स्वय मे ही एक अनूठा कार्य है। आज जैनदर्शन और कर्मसिद्धान्त के सैकडो अध्येता उनमे लाभ उठा रहे है। आपश्री के सान्निध्य मे ही पचसग्रह (दस भाग) जैसे विशालकाय कर्मसिद्धान्त के अतीव गहन ग्रन्थ का सम्पादन, विवेचन और प्रकाशन प्रारम्भ हुआ है, जो वर्तमान मे आपश्री की

दयनीयता से द्रवित हो जाते और तत्काल समाज के समर्थ व्यक्तियो द्वारा उनकी उपयुक्त व्यवस्था करा देते। इसी कारण गाव-गाव मे किसान, कुम्हार, ब्राह्मण, सुनार, माली आदि सभी कौमो के व्यक्ति आपश्री को राजा कर्ण का अवतार मानने लग गये और आपश्री के प्रति श्रद्धावनत रहते। यही सच्चे सत की पहचान है, जो किसी भी भेदभाव के बिना मानव मात्र की सेवा मे रुचि रखे, जीव मात्र के प्रति करुणाशील रहे।

इस प्रकार त्याग, सेवा, सगठन, साहित्य आदि विविध क्षेत्रो मे सतत प्रवाहशील उस अजर-अमर यशोधारा मे अवगाहन करने से हमे मरुधरकेसरी जी म० के व्यापक व्यक्तित्व की स्पष्ट अनुभूतिया होती है कि कितना विराट्, उदार, व्यापक और महान था वह व्यक्तित्व !

श्रमणसघ और मरुधरा के उस महान सत की छत्र-छाया की हमे आज बहुत अधिक आवश्यकता थी किन्तु भाग्य की विडम्बना ही है कि विगत वर्ष १७ जनवरी, १९८४, वि० स० २०४०, पौष शुदि १४, मगलवार को वह दिव्यज्योति अपना प्रकाश विकीर्ण करती हुई इस धराधाम से ऊपर उठकर अनन्त असीम में लीन हो गयी थी।

पूज्य मरुधरकेसरी जी के स्वर्गवास का उस दिन का दृश्य, शव-यात्रा मे उपस्थित अगणित जनसमुद्र का चित्र आज भी लोगो की स्मृति मे है और शायद शताब्दियो तक इतिहास का कीर्तिमान बनकर रहेगा। जैतारण के इतिहास मे क्या, सभवत राजस्थान के इतिहास मे ही किसी सन्त का महाप्रयाण और उस पर इतना अपार जन-समूह (सभी कौमो और सभी वर्ण के) उपस्थित होना यह पहली घटना थी। कहते है, लगभग ७५ हजार की अपार जनमेदिनी से सकुल शव-यात्रा का वह जलूस लगभग ३ किलोमीटर लम्बा था, जिसमे लगभग २० हजार तो आस-पास व गावो के किसान बधु ही थे जो अपने ट्रेक्टरो, बैलगाडियो आदि पर चढकर आये थे। इस प्रकार उस महा-पुरुप का जीवन जितना व्यापक और विराट रहा, उससे भी अधिक व्यापक और श्रद्धा परिपूर्ण रहा उसका महाप्रयाण !

उस दिव्य पुरुप के श्रीचरणो मे शत-शत वन्दन !

—श्रीचन्द सुराना 'सरस'

प्राक्कथन

पचसग्रह के इस अधिकार मे उपशमना, निद्धत्ति और निकाचना इन तीन करणो की प्ररूपणा की गई है। यद्यपि उपशमना, निद्धत्ति और निकाचना रूप स्थिति कर्मदलिको की बनती है, परन्तु उस प्रकार की स्थिति बनने मे जीव के परिणाम कारण होने से इस अर्थ का बोध कराने के लिये उनके साथ करण शब्द का प्रयोग किया है।

इन तीनो मे मुख्य उपशमनाकरण है। इस उपशमनाकरण के दो भेद है—सर्वोपशमना और देशोपशमना। देशोपशमना, निद्धत्ति और निकाचना मे प्राय समानता है परन्तु निद्धत्त हुए कर्म मे उद्वर्तना और अपवर्तना यह दो करण ही प्रवर्तित होते हैं और निकाचित मे कोई करण प्रवर्तित नही होता। यह कर्मो की दशा आत्म-परिणामो की परिणतिविशेष मे सभव होने के कारण इनका पृथक से वर्णन किया जाता है।

देशोपशमना, निद्धत्ति और निकाचना प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश की होती है तथा मूल प्रकृतियो और उत्तरप्रकृतियो की अपेक्षा क्रमश आठ और एकसौ अट्ठावन प्रकार से होती है और स्वामी आदि भी प्राय समान है। लेकिन सर्वोपशमना मात्र मोहनीय कर्म की होती है। यह यथाप्रवृत्त, अपूर्व और अनिवृत्ति—इन तीन करणो द्वारा होने से सर्वोपशमना कहलाती है। करणकृत होने से ही आत्मा अपने स्वरूप की उपलब्धि करती है। इसलिये यह महत्वपूर्ण है और इसका विस्तार से वर्णन किया है।

विषय प्रवेश के रूप मे जिसका परिचय इस प्रकार है—

सर्वप्रथम करणकृत और अकरणकृत इस प्रकार ने उपशमना के दो प्रकारो को बतलाकर दोनो के सार्थक पर्यायवाची नाम बताये हैं।

अकरणकृत उपशमना का सप्रदाय विच्छिन्न हो जाने से मुख्यतया करणकृत उपशमना का विचार किया है। इस करणकृत उपशमना का अपरनाम सर्वोपशनना है और यह सिफ मोहनीयकर्म की होती है।

सर्वोपशमना का विस्तार से वर्णन १ सम्यक्त्वोत्पाद प्ररूपणा, २ देशविरतिलाभ, ३ सर्वविरति लाभ, ४ अनन्तानुबधि-विसयोजना, ५ दर्शनमोहनीय क्षपणा, ६ दर्शनमोहनीय उपशमना, ७ चारित्रमोहनीय उपशमना—इन सात द्वारो द्वारा किया गया है। यद्यपि देशविरतिलाभ आदि चार द्वारो मे मोहनीय-कर्म की किसी भी प्रकृति की सर्वथा उपशमना नही होती है, फिर भी सर्वोपशमना के प्रसग मे उनको ग्रहण इसलिये किया है कि चारित्र-मोहनीय की उपशमना देश और सर्व विरति की प्राप्ति होने के बाद ही होती है तथा अनन्तानुबधि की विसयोजना करने के बाद ही चारित्र मोहनीय की उपशमना होती है और दर्शनत्रिक का क्षय करने के बाद भी चारित्रमोहनीय की उपशमना होती है। इसीलिये इन चार द्वारो को भी सर्वोपशमना के प्रसग मे ग्रहण किया है। अन्यथा मूल मतानुसार तो सर्वोपशमना के सम्यक्त्वोत्पाद प्ररूपणा, दर्शनत्रिक उपशमना, चारित्रमोहनीय उपशमना ये तीन और अन्य आचार्यो के मतानुसार अनन्तानुबधि की उपशमना सहित चार द्वार है। ऐसा वर्णन से प्रतीत होता है।

यह सब कथन करने के बाद प्रथम सम्यक्त्वोत्पाद प्ररूपणा का निर्देश किया है।

प्रथम सम्यक्त्व उत्पन्न करने वाले जीव की योग्यता को बतलाया है कि सर्व पर्याप्तियो से पर्याप्त, उपशमलब्धि, उपदेश श्रवणलब्धि और प्रयोगलब्धि से युक्त सज्ञीपचेन्द्रियजीव सम्यक्त्व उत्पन्न करने का अधिकारी है।

अनन्तर यथाप्रवृत्त, अपूर्व और अनिवृत्ति इन तीन करणो की विस्तृत व्याख्या की है। अपूर्वकरण का स्वरूप बतलाने के प्रसग मे स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि और बधकाद्धा (अपूर्व स्थितिबध) का

विस्तार से स्पष्टीकरण किया है। यही चार पदार्थ अनिवृत्तिकरण मे भी होते है और अनिवृत्तिकरण काल का सख्यातवा भाग शेष रहने पर स्थिति का अन्तरकरण होता है। अतरकरण होने पर नीचे और ऊपर की स्थिति— इस प्रकार से स्थिति के दो भाग हो जाते है। नीचे की स्थिति को प्रथमस्थिति और ऊपर की स्थिति को द्वितीयस्थिति कहते हैं। वीच की भूमिका शुद्ध होती है। जिसमे कोई भी दलिक भोगने योग्य नही रहता है। इसी समय प्रथमोपशम सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। जिसका काल अतर्मुहूत है।

उपशाताद्धा के अत मे अध्यवसायो के अनुसार सम्यक्त्वपुज का उदय होने पर क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की, मिश्रपुज का उदय होने पर मिश्रगुणस्थान की और मिथ्यात्वपुज का उदय होने पर मिथ्यात्व-गुणस्थान की प्राप्ति होती है तथा उपशमसम्यक्त्व काल मे एक समय यावत् छह आवलिका काल शेप रहने पर अशुभ परिणाम होने से कोई सासादनभाव को भी प्राप्त होता है और उसके वाद वहाँ से गिरकर अवश्य ही मिथ्यात्व को प्राप्त करता है।

इस प्रकार से प्रथम सम्यकत्वोत्पाद प्ररूपणा का सागोपाग विवेचन करने के वाद चारित्रमोहनीय-उपशमना प्ररूपणा का कथन प्रारभ किया है। सर्वप्रथम देशविरति, सर्वविरति लाभ और स्वामित्व को वतलाने के वाद अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरति और सर्वविरति का स्वरूप वतलाया है।

अनन्तर क्रमप्राप्त अनन्तानुवधि-विसयोजना की तथा जो आचार्य अनन्तानुवधि की उपशमना मानते है, उनके मतानुसार उपशमना प्ररूपणा की है।

तत्पश्चात् दर्शनमोहक्षपण का विस्तार से वर्णन किया है और अत मे वतलाया है कि क्षायिक सम्यक्त्वी कितने भव मे मोक्ष प्राप्त करता है—इसके वाद चरित्रमोहनीय की उपशमना का स्वामित्व

एव दर्शनमोहनीयत्रिक की उपशमना-विधि का निरूपण किया है। फिर चारित्रमोहनीय की उपशमना विधि का यथाक्रम से वर्णन किया है। साथ मे अश्वकर्णकरण मे करने योग्य का एव किट्टियो के स्वरूप का और किट्टियो के रस और प्रदेश के अल्पवहुत्व का वर्णन किया है।

चारित्रमोहनीय के उपशम होने की पूर्णता ग्यारहवें उपशान्त-मोहगुणस्थान मे होती है। अतएव इस गुणस्थान का विस्तार से स्वरूप वर्णन किया है और इसके वाद पतनकर अवद्धायुष्क जीव विलोम क्रम से नीचे-नीचे छठे प्रमत्तसयत गुणस्थान मे और उसके वाद पतन कर पहले मिथ्यात्व गुणस्थान मे आता है और आरोहण करते समय जिस क्रम से जिस-जिस गुणस्थान मे जिन-जिन प्रकृतियो का विच्छेद हुआ था, उसी क्रम से अवरोहण करते समय यथाक्रम से उस उस गुणस्थान के प्राप्त होने पर उन-उन प्रकृतियो के वधादि होने का कारण सहित स्पष्टीकरण किया है।

इसके बाद स्त्री और नपु सक वेदोदय की अपेक्षा उपशमश्रेणियाँ होने का निरूपण करके सर्वोपशमना का वर्णन पूर्ण हुआ।

इस प्रकार से करणकृत उपशमना का निर्देश करने के बाद अक-रणकृत उपशमना—देशोपशमना की व्याख्या की है कि यह प्रकृति, स्थिति आदि के भेद से चार प्रकार की है और ये चारो भेद भी मूल और उत्तर प्रकृतियो के भेद से दो-दो प्रकार के है तथा देशोपशमना द्वारा शमित दलिको मे उद्वर्तना, अपवर्तना और सक्रम यह तीन करण होते है, शेष करण लागू नहीं होते है तथा अपूर्वकरण गुणस्थान तक के जीव ज्ञानावरणादि सभी आठो मूल और एकसौ अट्ठावन उत्तर प्रकृतियो की देशोपशमना के स्वामी है। फिर प्रकृतियो और प्रकृति-स्थानो की साद्यादि प्ररूपणा करके प्रकृति देशोपशमना का वर्णन समाप्त हुआ। इसी प्रकार से स्थिति, अनुभाग और प्रदेश देशोपशमना की प्ररूपणा करके उपशमनाकरण की विवेचना पूर्ण की।

तदनन्तर प्राय· देशोपशमना जैसे निद्धत्ति और निकाचना इन दो करणो की मुख्य-मुख्य विशेषताओ का वर्णन करके बधनकरण से प्रारभ हुए कर्म-प्रकृति विभाग के आठ करणो की प्ररूपणा समाप्त की है ।

उपशमनादि करणत्रय का समस्त विवेचन एक सौ चार गाथाओ मे पूर्ण हुआ है।

यह वर्ण्य विषय की सक्षिप्त रूपरेखा है। विशेष जानकारी के लिये अधिकार का सागोपाग अध्ययन करना आवश्यक है।

खजाची मोहल्ला
बीकानेर ३३४००१

—**देवकुमार जैन**

विषयानुक्रमणिका

निद्धत्ति-निकाचनाकरण

श्रीमदाचार्य चन्द्रर्षिमहत्तर-विरचित

पंचसंग्रह

(मूल, शब्दार्थ तथा विवेचनयुक्त)

उपशमनादि करणत्रय-
प्ररूपणा अधिकार

८ उपशमनादि करणत्रय-प्ररूपणा अधिकार
(उपशमना-निधत्ति-निकाचना करण)

उदीरणाकरण का विस्तार से विवेचन करने के पश्चात् अब उपशमनादि तीन करणो का अनुक्रम से प्रतिपादन करते है। उपशमनाकरण का आद्य गाथा सूत्र इस प्रकार है—

देसुवसमणा सव्वाण होइ सव्वोवसामणा मोहे।
अपसत्था पसत्था जा करणुवसमणाए अहिगारो ॥१॥

शब्दार्थ—देसुवसमणा—देशोपशमना, सव्वाण—सबकी होइ—होती है, सव्वोवसामणा—सर्वोपशमना मोहे—मोहनीय कर्म की, अपसत्था—अप्रशस्त, पसत्था—प्रशस्त, जा—जिनके, करणुवसमणाए—करणोपशमना का, अहिगारो—अधिकार।

गाथार्थ—देशोपशमना सब आठो कर्मों की और सर्वोपशमना मात्र मोहनीय कर्म की होती है। जिनके अनुक्रम से अप्रशस्त और प्रशस्त ये अपरनाम है। यहाँ करणोपशमना के विचार का अधिकार है।

विशेषार्थ—गाथा मे उपशमना की रूपरेखा प्रस्तुत की है कि—

उपशमना के दो प्रकार है—१ देशोपशमना २ सर्वोपशमना। उनमे से देशोपशमना समस्त यानी आठो कर्म प्रकृतियो की होती है, किन्तु सर्वोपशमना मात्र मोहनीय कर्म की होती है। देशोपशमना के देशोपशमना, अनुदयोपशमना, अगुणोपशमना और अप्रशस्तोपशमना तथा सर्वोपशमना के सर्वोपशमना, उदयोपशमना, गुणोपशमना और प्रशस्तोपशमना ये पर्यायवाची नाम है।

उक्त पर्यायवाची नामकरण होने का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

सत्ता मे रहे हुए कर्मदलिको को ऐसी स्थिति मे स्थापित करना कि जिनमे उद्वर्तना, अपवर्तना और सक्रम के सिवाय अन्य कोई करण नही लगे। देशोपशमना को सर्वोपशमना की तरह सर्वथा और असख्यात गुणाकार रूप से दलिको की उपशमना नही होने से देशोपशमना और अगुणोपशमना कहते है। जिसका देशोपशम हुआ हो, उसका उदय भी हो सकता है, इसीलिये अनुदयोपशम ऐसा भी नाम है तथा सर्वोपशम होने के बाद जैसे गुण का पूर्णरूपेण स्वरूप प्रगट होता है, वैसा देशोपशमना मे नही होता है, इसीलिये देशोपशमना को अप्रशस्तोपशमना भी कहते है।

सर्वोपशमना को प्रशस्तोपशमना आदि कहने का कारण यह है—सत्ता मे विद्यमान द्वितीय स्थितिगत दलिक अन्तरकरण करने के बाद पूर्व-पूर्व समय की अपेक्षा उत्तरोत्तर समय मे असख्यात-असख्यात गुणाकार रूप से उपशात करके इस प्रकार की स्थिति मे स्थापित किया जाता है कि जिसमे सक्रमादि कोई भी करण लागू नही पडता है और न अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त उदय भी होता है। इसीलिये उसे सर्वोपशमना और उदयोपशमना कहा जाता है। उपशमन क्रिया प्रारम्भ होने के बाद प्रतिसमय असख्यात-असख्यातगुण दलिक उपशमित होते हैं, इसीलिये गुणोपशमना यह भी नाम है और सर्वोपशमना होने के बाद वह कर्म जिस गुण को आवृत करता है वह गुण सम्पूर्ण रूप से अनावृत हो जाता है, इसीलिये प्रशस्तोपशमना यह चौथा पर्याय नाम है।

देशोपशमना दो प्रकार से होती है—१ यथाप्रवृत्त आदि करण पूर्वक और २ करण के सिवाय। किन्तु सर्वोपशमना तो यथाप्रवृत्तादि तीन करणो[1] से ही होती है और उनके द्वारा की जाने वाली उपशमना करणकृत उपशमना कहलाती है।

---

१ यथाप्रवृत्तकरण, अपूवकरण और अनिवृत्तिकरण ये तीन करण है। इनका स्वरूप आगे बताया जा रहा है।

पर्वतीय नदी के पत्थर के स्वयमेव गोल होने के न्याय से ससारी जीवो को यथाप्रवृत्तादि करणो से साध्य क्रियाविशेष के बिना ही वेदन-अनुभव आदि कारणो से हुए प्रशस्त परिणामो द्वारा जो उपशमना होती है, वह करणरहित—अकरणोपशमना कहलाती है। इस अकरणोपशमना का अनुयोग—व्याख्यान—वर्णन वर्तमान मे उसके स्वरूप के ज्ञाता के अभाव मे विच्छिन्न—नष्ट हो गया है। इसलिये करण द्वारा सम्भव प्रशस्त एव अप्रशस्त उपशमनाओ के विचार का यहा अधिकार है। उनमे भी विशेष कथनीय होने से प्रथम सर्वोपशमना का विचार करते है। उसके विचार के निम्नलिखित अर्थाधिकार-विपय है—

१ प्रथमसम्यक्त्वोत्पादप्ररूपणा, २ देशविरतिलाभप्ररूपणा, ३ सर्वविरतिलाभ प्ररूपणा, ४ अनन्तानुबधिविसयोजना, ५ दर्शनमोहनीयक्षपणा, ६ दर्शनमोहनीयोपशमना और ७ चारित्रमोहनीयोपशमना।

उक्त सात विपयो मे से प्रथम सम्यक्त्व कैसे—किस क्रम से उत्पन्न होता है ? उसका विचार करते है।

प्रथम सम्यक्त्वोत्पाद प्ररूपणा

सव्वुवसमणजोग्गो पज्जत्त पणिदि सण्णि सुभलेसो।
परियत्तमाणसुभपगइबधगोऽतीव सुज्झतो ॥ २ ॥
असुभसुभे अणुभागे अणंतगुणहाणिवुड्ढिपरिणामो।
अन्तोकोडाकोडीठिइओ आउ अबधतो ॥ ३ ॥
बन्धादुत्तारबन्धं पलिओवमसखभागऊणूण।
सागारे उवओगे वट्टन्तो कुणइ करणाइ ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—**सव्वुवसमणजोग्गो**—सर्वोपशमना के योग्य, **पज्जत्त**—पर्याप्त, **पणिदि**—पचेन्द्रिय, **सण्णि**—संज्ञी, **सुभलेसो**—शुभ लेश्या वाला, **परियत्तमाणसुभपगइबंधगो**—परावर्तमान शुभ प्रकृतियो का बंधक, **अतीवसुज्झतो**—अत्यन्त शुद्ध।

असुभसुभे—अशुभ और शुभ प्रकृतियो के, **अणुभागे**—अनुभाग-रस को, **अणतगुणहाणिवुड्ढिपरिणामो**—क्रमश अनन्त गुणहीन और वृद्धि परिणाम वाला

वाधता हुआ, **अन्तोकोडाकोडीठिइओ**—अन्त कोडाकोटी स्थिति वाला, आउ —आयु को, **अबधतो**—नही बाधता हुआ ।

बन्धादुत्तरबध—उत्तरोत्तर बध को, **पलिओवमसखभागऊणूण**—पल्योपम के सख्यातवें भाग न्यून करता हुआ, **सागारेउवओगे**—साकारोपयोग मे, **वट्टन्तो**—वर्तमान, **कुणइ**—करता है, **करणाइ**—करणो को ।

गाथार्थ—सर्वोपशमना के योग्य, पर्याप्त, पचेन्द्रिय सज्ञी, शुभ लेश्या वाला, परावर्तमान शुभ प्रकृतियो का बधक, अत्यन्त शुद्ध तथा अशुभ और शुभ प्रकृतियो के अनुभाग को उत्तरोत्तर क्रमश अनन्तगुणहीन और अनन्तगुण वृद्धि रूप से बाँधता हुआ, उत्तरोत्तर बध को पल्योपम के सख्यातवे भाग न्यून बाँधने वाला और साकारोपयोग मे वर्तमान जीव मिथ्यात्व का सर्वोपशम करने के लिये करणो को करता है ।

विशेषार्थ—इन तीन गाथाओ मे सर्वप्रथम सम्यक्त्व को उत्पन्न करने वाले जीव की योग्यता आदि का उल्लेख किया है—

मिथ्यात्व की सर्वोपशमना के योग्य—सक्षम समस्त पर्याप्तियो से पर्याप्त, १—उपशमलब्धि (मिथ्यात्वमोहनीयकर्म को सर्वथा शात करने की योग्यता वाला एव जिसके भव्यत्वभाव का परिपाक हो चुका है) २—उपदेशश्रवणलब्धि (उपदेश श्रवण करने की योग्यता) और ३—प्रयोगलब्धि (मनोयोग, वचनयोग और काययोग मे से कोई भी एक योग युक्त) इन तीन लब्धियो (शक्तियो) मे युक्त सज्ञी पचेन्द्रिय है ।

वह करणकाल के पूर्व भी—यथाप्रवृत्त आदि करण प्रारम्भ करने के पहले भी अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त शुभलेश्या वाला (तेजो, पद्म और शुक्ल लेश्या मे से कोई एक शुभ लेश्या युक्त) होता है और परावर्तमान पुण्यप्रकृतियो को बाँधता है । यह उपशमसम्यक्त्व चारो गति के जीव उत्पन्न कर सकते है । यदि तिर्यंच और मनुष्य प्रथमसम्यक्त्व उत्पन्न करते है तो वे देवगतिप्रायोग्य देवद्विक, पचेन्द्रियजाति, वैक्रियशरीर, वैक्रियअगोपाग, प्रथमसस्थान, पराघात, उच्छ्वास, प्रशस्तविहायो-

गति, त्रसदशक, सातावेदनीय, उच्चगोत्र रूप परावर्तमान इक्कीस प्रकृतिया बाँधते है और यदि नारक और देव है तो वे मनुष्यगति-प्रायोग्य मनुष्यद्विक, पचेन्द्रियजाति, प्रथमसहनन, प्रथमसस्थान, औदारिकद्विक, पराघात, उच्छ्वास, प्रशस्तविहायोगति, त्रसदशक, सातावेदनीय और उच्चगोत्र रूप परावर्तमान बाईस प्रकृतियो को बाँधते हैं। परन्तु इतना विशेष है कि मात्र सातवी नरकपृथ्वी का नारक भव-स्वभाव से ही पहले और दूसरे गुणस्थान मे तिर्यंचगतिप्रायोग्य प्रकृतियो का बध करने वाला होने से प्रथमसम्यक्त्व उत्पन्न करते हुए भी अनिवृत्तिकरण के चरम समय पर्यन्त तिर्यंचगतिप्रायोग्य प्रकृतियों का ही बध करता है। यानि वह तिर्यंचद्विक और नीचगोत्र कर्म का बंध करता है। इनके सिवाय शेष प्रकृतिया जो पूर्व मे बताई है, उन्हीं को बाँधता है।

उत्तरोत्तर समय मे अनन्तगुण विशुद्धि से बढता हुआ शुभ अध्यवसाय वाला चारो गतियो मे से किसी भी गति का जीव हो सकता है तथा अशुभप्रकृतियो के अनुभाग को अनुक्रम से अनन्तगुण हीन करता हुआ और पुण्यप्रकृतियो के रस को अनन्तगुण बढाता हुआ तथा आयुकर्म के सिवाय सातो कर्मों की अन्त कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थिति की सत्ता जिसने रखी है ऐसा और आयुकर्म को नही बाधता,[1] पूर्व-पूर्व स्थितिबध की अपेक्षा उत्तर-उत्तर के स्थितिबध को पल्योपम के सख्यातवे भाग कम-कम करता हुआ, यानि एक स्थितिबध जब पूर्ण हो तब नया पल्योपम का सख्यातवे भाग न्यून बाँधता—करता, बध्यमान अशुभ प्रकृतियो के द्विस्थानक रस को बाँधता और उसको भी प्रतिसमय अनन्तगुण हीन अर्थात् अनन्तवे भाग करता और बधती हुई शुभप्रकृतियो के रस को चतु स्थानक बाँधता हुआ और उसे भी प्रतिसमय अनन्तगुणा बढाता हुआ तथा मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और

---

१ अतिविशुद्धपरिणाम वाला जीव आयु को नही बाँधता है। आयुकर्म का बध मध्यम परिणामो से होता है इसीलिये उसका निषेध किया है।

विभगज्ञान मे से किसी भी साकारोपयोग—ज्ञानोपयोग मे वर्तमान जीव सम्यक्त्व प्राप्त करने के योग्य है और वैसा जीव उसे प्राप्त करने के लिये तीन करण करता है। जिनके नाम आगे की गाथा मे बतलाते है।

करणत्रय के नाम

पढम अहापवत्तं बीय तु नियट्टी तइयमणियट्टी।
अतोमुहुत्तियाइ उवसमअद्ध च लहइ कमा ॥५॥

शब्दार्थ—**पढम**—प्रथम-पहला, **अहापवत्त**—यथाप्रवृत्तकरण, **बीय**—द्वितीय-दूसरा, **तु**—और, **नियट्टी**—निवृत्ति-अपूर्वकरण, **तइयमणियट्टी**—तृतीय-तीसरा अनिवृत्तिकरण, **अन्तोमुहुत्तियाइ**—अतर्मुहूर्तकाल वाले, **उवसमअद्ध**—उपशमकाल प्रमाण (अन्तर्मुहूर्तकालप्रमाण) **च**—और, **लहइ**—प्राप्त करता है, **कमा**—क्रम से।

गाथार्थ—पहला यथाप्रवृत्त, दूसरा अपूर्वकरण और तीसरा अनिवृत्तिकरण है। ये प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त काल वाले है। तत्पश्चात् उपशमकालप्रमाण वाले (अन्तर्मुहूर्त काल प्रमाण वाले) उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करता है।

विशेषार्थ—उपशमसम्यक्त्व प्राप्त करने से पूर्व जीव तीन करण करता है। जिनके नाम इस प्रकार हैं—यथाप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। इन तीनो करणो मे से प्रत्येक का काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण का है। इस प्रकार अनुक्रम से तीनो करणो को करने के पश्चात् जीव उपशमसम्यक्त्व प्राप्त करता है और उस प्राप्त उपशमसम्यक्त्व का काल भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

अब ग्रन्थकार आचार्य तीनो करणो का लक्षण—स्वरूप बतलाते है।

तीन करणो का स्वरूप

आइल्लेसु दोसु जहन्नउक्कोसिया भवे सोही।
जं पइसमय अज्झवसाया लोगा असखेज्जा ॥६॥

शब्दार्थ—**आइल्लेसु**—आदि के, **दोसु**—दो करणो मे, **जहन्नउक्कोसिया**—जघन्य और उत्कृष्ट, **भवे**—होती है, **सोही**—विशुद्धि, **ज**—क्योकि, **पइ-**

समय—प्रत्येक समय, अज्झवसाया—अध्यवसाय, लोगा असखेज्जा—असख्यात लोकाकाशप्रदेश प्रमाण ।

गाथार्थ—आदि के दो करणो मे जघन्य और उत्कृष्ट इस तरह दो प्रकार की विशुद्धि होती है। क्योकि प्रत्येक समय मे असख्यात लोकाकाशप्रदेश प्रमाण अध्यवसाय है।

विशेषार्थ—करण अर्थात् आत्मपरिणाम यानि कि पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर समय मे अनन्त-अनन्तगुण बढते हुए आत्म परिणाम।

आदि के दो करणो—यथाप्रवृत्तकरण और अपूर्वकरण से साथ च हुए जीवो मे अध्यवसायो का तारतम्य होता है। यथाप्रवृत्त और अपूर्वकरण के प्रथम समय को समकाल मे स्पर्श करने वाले जीवो मे उस-उस करण की अपेक्षा कितने ही जघन्यपरिणामी, कितने ही मध्यमपरिणामी, और कितने ही उत्कृष्टपरिणामी जीव होते हैं। इसीलिये आचार्य ने सकेत किया है कि आदि के यथाप्रवृत्त और अपूर्व इन दो करणो मे जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट विशुद्धि होती है। क्योकि इन दो करणो मे अनेक जीवो की अपेक्षा प्रतिसमय तरतमभाव से असख्य लोकाकाशप्रदेश प्रमाण अध्यवसाय-विशुद्धि के स्थान हैं और वे भी पूर्व पूर्व समय की अपेक्षा उत्तर-उत्तर के समय मे प्रवर्धमान होते है। जैसे कि—

यथाप्रवृत्तकरण के प्रथम समय मे तीनो काल के जीवो की अपेक्षा तरतमभाव से असख्य लोकाकाशप्रदेश प्रमाण विशुद्धि के स्थान होते हैं। दूसरे समय मे क्षयोपशम की विचित्रता से कुछ अधिक विशुद्धि के स्थान होते है, तीसरे समय मे पूर्व से कुछ अधिक होते हैं। इस प्रकार यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय पर्यन्त जानना चाहिये। यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय से अपूर्वकरण के प्रथम समय मे अधिक विशुद्धि के स्थान होते है, दूसरे समय मे उनकी अपेक्षा अधिक, इस तरह अपूर्वकरण के भी चरम समय तक जानना चाहिये।

इन करणो को स्पर्श करने वाले तीनो काल के जीव यद्यपि अनन्त है, परन्तु बहुत से जीव समान अध्यवसाय-विशुद्धि वाले होने से अध्यवसाय-विशुद्धि के स्थानो की संख्या असख्य लोकाकाशप्रदेश प्रमाण ही

होती है, इससे अधिक नही। इन दोनो करणो मे पूर्व-पूर्व समय की अपेक्षा उत्तरोत्तर समय मे मोहनीयकर्म के क्षयोपशम की विचित्रता के कारण अध्यवसायो की सख्या बढती जाती है। जिससे यथाप्रवृत्त और अपूर्वकरण के अध्यवसायो की स्थापना की जाये तो विषम चतुरस्रक्षेत्र को व्याप्त करते हैं।

अनिवृत्तिकरण मे तो साथ मे च हुए जीव समान परिणाम वाले ही होते हैं। यानि अनिवृत्तिकरण के प्रथम समय मे जो जीव आरूढ हुए थे, जो आरूढ हो रहे है और आरोहण करेंगे उनके एक-जैसे सदृश परिणाम होते है। साथ मे आरोहण किये हुए जीवो मे अपूर्व-करण को तरह अध्यवसायो की तरतमता नही होती है।[1] इसीलिये अनिवृत्तिकरण के अध्यवसाय मुक्तावलि सस्थित जानना चाहिये।[2]

---

१ फिर भी पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर समय मे अनन्तगुणी विशुद्धि तो होती ही है।

२ यथाप्रवृत्त आदि तीनो करणो के अध्यवसायो का प्रारूप इस प्रकार है—
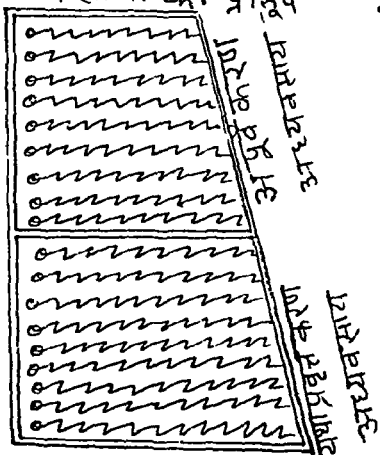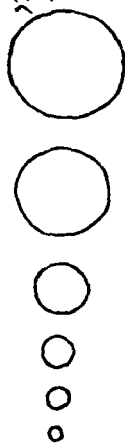
अब इसी बात को विशेषता के साथ स्पष्ट करते है—

पइसमयमणन्तगुणा सोही उड्ढामुही तिरिच्छा उ ।
छट्ठाणा जीवाण तइए उड्ढामुही एक्का ॥७॥

शब्दार्थ—**पइसमयमणन्तगुणा**—प्रतिसमयअनन्तगुण, **सोही**—विशुद्धि, **उड्ढामुही**—ऊर्ध्वमुखी, **तिरिच्छा**—तिर्यग्मुखी, **उ**—और, **छट्ठाणा**—षट्स्थानपतित, **जीवाण**—जीवो की, **तइए**—तीसरे अनिवृत्तिकरण मे, **उड्ढामुही**—ऊर्ध्वमुखी, **एक्का**—एकमात्र ।

गाथार्थ—प्रति समय जीवो की ऊर्ध्वमुखी विशुद्धि अनन्तगुण है और तियग्मुखी विशुद्धि षट्स्थानपतित है । तीसरे अनिवृत्तिकरण मे एकमात्र ऊर्ध्वमुखी विशुद्धि ही होती है ।

विशेषार्थ—पूर्व समय की अपेक्षा उत्तर-उत्तर के समय की विशुद्धि के विचार को ऊर्ध्वमुखीविशुद्धि और एक ही समय की विशुद्धि को—विशुद्धि के तारतम्य के विचार को तिर्यग्मुखीविशुद्धि कहते है । ऊर्ध्वमुखीविशुद्धि तो तीनो करणो मे होती है और तिर्यग्मुखीविशुद्धि मात्र प्रारम्भ के दो करणो यथाप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण मे ही होती हैं । तीनो करणो मे पूर्व-पूर्व समय की अपेक्षा उत्तर-उत्तर के समय की ऊर्ध्वमुखी विशुद्धि अनन्त-अनन्त गुणी जानना चाहिये । अर्थात् प्रथम समय मे जो विशुद्धि है, उसकी अपेक्षा द्वितीय समय मे अनन्तगुणी विशुद्धि होती है, उसकी अपेक्षा तीसरे समय मे अनन्तगुणी विशुद्धि होती है । इस तरह यथाप्रवृत्ताकरण के प्रथम समय से लेकर अनिवृत्तिकरण के चरम समय पर्यन्त जानना चाहिये ।

आदि के दो करणो की तिर्यग्मुखी विशुद्धि षट्स्थान पतित होती है । अर्थात्— यथाप्रवृत्तकरण के प्रथम समय मे साथ ही आरूढ हुए जीवो मे अनेक जीवो की अपेक्षा जो असख्यात लोकाकाशप्रदेशप्रमाण विशुद्धि के स्थान है, उनमे का किसी जीव का विशुद्धि स्थान किसी

जीव के विशुद्धिस्थान की अपेक्षा अनन्तभाग अधिक होता है, किसी का असख्यातभाग अधिक, किसी का सख्यातभाग अधिक, किसी का सख्यातगुण अधिक, किसी का असख्यातगुण अधिक और किसी का अनन्तगुण अधिक होता है। इसी तरह दूसरे, तीसरे आदि अपूर्वकरण के चरम समय पर्यन्त जानना चाहिये।

इस तरह यथाप्रवृत्त तथा अपूर्वकरण मे साथ ही आरूढ हुए जीवो मे विशुद्धि का तारतम्य है।

अनिवृत्तिकरण मे इस तरह का तारतम्य नही है। क्योकि अनिवृत्तिकरण मे तो प्रत्येक समय साथ आरूढ हुए समस्त जीवो के विशुद्धिस्थान—अध्यवसाय समान-सदृश तुल्य होते है। यानि अनिवृत्तिकरण के प्रथम समय मे जो जीव थे, है और होगे, उन सबका एक ही अध्यवसायस्थान— समान विशुद्धि होती है। दूसरे समय मे जो जीव थे, है और होगे, उन सबका भी एक ही अध्यवसायस्थान होता है। मात्र प्रथम समय के अध्यवसायो की विशुद्धि की अपेक्षा वह अनन्त गुणी है। इस तरह से अनिवृत्तिकरण के चरमसमयपर्यन्त जानना चाहिये। इसी कारण अनिवृत्तिकरण मे ऊर्ध्वमुखी एक ही विशुद्धि होती है, परन्तु तिर्यग्मुखी विशुद्धि नही होती है।

पूर्वोक्त कारण से यथाप्रवृत्त और अपूर्वकरण के अध्यवसायो की स्थापना विषमचतुरस्र और अनिवृत्तिकरण के अध्यवसायो की स्थापना मुक्तावली सस्थित बतलाई है।

अब यथाप्रवृत्तकरण की विशुद्धि का तारतम्य बतलाते है—

यथाप्रवृत्तकरण की विशुद्धि

> गतु सखेज्जंसं अहापवत्तस्स हीण जा सोही।
> तीए पढमे समये अणन्तगुणिया उ उक्कोसा ॥८॥

एव एक्कंतरिया हेट्ठुवरिं जाव हीणपज्जन्ते ।
तत्तो उक्कोसाओ उवरुवरि होइ अणन्तगुणा ॥६॥

शब्दार्थ—गतु—जाने पर, संखेज्जस—सख्यातवेंभागपर्यन्त, अहा-पवत्तस्स—यथाप्रवृत्तकरण के, हीण—हीन, जा—जो सोही—विशुद्धि तीए—उसके, पढमे समये—प्रथम समय मे, अणन्तगुणिया—अनन्तगुणित, उ—और उक्कोसा—उत्कृष्ट ।

एव—इसी प्रकार एक्कतरिया—एकान्तरित, हेट्ठुवरिं—नीचे और ऊपर, जाव—यावत्, हीणपज्जन्ते—जघन्यपर्यन्त, तत्तो—उसके बाद, उक्को-साओ—उत्कृष्ट, उवरुवरि—ऊपर ऊपर, होइ—होती है अणन्तगुणा—अनन्तगुण ।

गाथार्थ—यथाप्रवृत्तकरण के सख्यातवे भाग पर्यन्त जाने पर उसके चरम समय मे जो जघन्य विशुद्धि होती है, उसकी अपेक्षा प्रथम समय मे उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुण होती है ।

इसी प्रकार सख्यातवे भाग से नीचे और ऊपर एकान्तरित विशुद्धि वहाँ तक जानना चाहिये यावत् जघन्य विशुद्धि का अन्तिम स्थान प्राप्त हो, उसके बाद ऊपर-ऊपर उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुण होती है ।

विशेषार्थ—यथाप्रवृत्तकरण के प्रथम समय मे तरतम भाव से विशुद्धि के जो असख्य स्थान कहे हैं, उनमे की जो सर्वजघन्य विशुद्धि है, जिसका आगे कथन किया जायेगा, उसकी अपेक्षा अल्प होती है, उसकी अपेक्षा दूसरे समय की जघन्य विशुद्धि अनन्तगुण, इस प्रकार वहाँ तक कहना चाहिये यावत् यथाप्रवृत्तकरण का सख्यातवा भाग जाये और उस सख्यातवें भाग के अन्त मे जो जघन्य विशुद्धि है, उससे प्रथम समय मे उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुण है । उससे सख्यातवे भाग

के अनन्तरवर्ती समय की जघन्यविशुद्धि अनन्तगुणी है। यानि जिस समय की जघन्यविशुद्धि की अपेक्षा प्रथम समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुणी कही है, उसके वाद के समय की जघन्यविशुद्धि अनन्तगुणी है। उससे दूसरे समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुणी है। उससे (दूसरे समय की उत्कृष्ट विशुद्धि से) जिस समय से दूसरे समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुणी कही है, उसके वाद के समय की जघन्य विशुद्धि अनन्तगुणी है। यानि सख्यातवे भाग के वाद के दूसरे समय की जघन्य विशुद्धि अनन्तगुणी है। इस प्रकार से ऊपर नीचे एक-एक समय की जघन्य उत्कृष्ट अनन्तगुण विशुद्धि कहते हुए वहाँ तक कहना चाहिये यावत् यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय मे जघन्य विशुद्धि अनन्तगुण होती है।

उक्त कथन का साराश यह है कि यथाप्रवृत्तकरण के सख्यातवे भाग के बाद से लेकर नीचे और ऊपर एक समय की उत्कृष्ट और एक समय की जघन्य, इस तरह एकान्तरित एक-एक अन्तर मे अनन्तगुण विशुद्धि वहा तक कहना चाहिये यावत् जघन्यविशुद्धि का अन्तिम स्थान—यथाप्रवृत्तकरण का चरम स्थान प्राप्त हो।

इस प्रकार से एकान्तरित जघन्य विशुद्धि यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय पर्यन्त जानना चाहिये। अब यथाप्रवृत्तकरण के अन्तिम सख्यातवे भाग मे कि जिसमे जघन्य विशुद्धि कही गई है किन्तु अभी उत्कृष्ट विशुद्धि का निर्देश नही किया है, उसको भी उत्तरोत्तर एक दूसरे से अनन्तगुणी जानना चाहिये। यानि यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय की जघन्य विशुद्धि से उसी करण के अन्तिम सख्यातवे भाग के प्रथम समय की उत्कृष्टविशुद्धि अनन्तगुण, इस तरह चरम समय पर्यन्त उत्कृष्ट विशुद्धि कहना चाहिये। सुगमता से समझने के लिये जिसका प्रारूप इस प्रकार है—

यथाप्रवृत्तकरण विशुद्धि

संख्यातवा भाग (१–४)

	समय	की	जघन्य विशुद्धि		उससे
१	प्रथम समय	की	जघन्य	विशुद्धि सर्वस्तोक	उससे
२	दूसरे	"	"	" अनन्तगुण	"
३	तीसरे	"	"	" "	"
४	चौथे	"	"	" "	"
५	पाँचवे	"	"	" "	"
६	छठे	"	"	" "	"
७	सातवे	"	"	" "	"
८	आठवे	"	"	" "	"
९	नौवे	"	"	" "	"
१०	दसवे	"	"	" "	"
११	ग्यारहवे	"	"	" "	"
१२	बारहवे	"	"	" "	"
१३	तेरहवे	"	"	" "	"

	समय	की	उत्कृष्ट	विशुद्धि	अनन्तगुण	उससे
१	प्रथम समय	की	उत्कृष्ट	विशुद्धि	अनन्तगुण	उससे
—२	दूसरे	"	"	"	"	"
—३	तीसरे	"	"	"	"	"
—४	चौथे	"	"	"	"	"
—५	पाँचवे	"	"	"	"	"
—६	छठे	"	"	"	"	"
—७	सातवे	"	"	"	"	"
—८	आठवे	"	"	"	"	"
—९	नौवे	"	"	"	"	"
—१०	दसवे	"	"	"	"	"
११	ग्यारहवे	"	"	"	"	"
१२	बारहवे	"	"	"	"	"
१३	तेरहवे	"	"	"	"	"

संख्यातवा भाग (१०–१३)

इस प्रकार की '———' रेखायुक्त समयस्थानो मे परस्पराक्रान्त प्ररूपणा करना चाहिये। जैसे चौथे जघन्यस्थान की विशुद्धि कहकर प्रथम स्थान की उत्कृष्टविशुद्धि फिर प्रथम स्थान की उत्कृष्ट विशुद्धि से पाचवे स्थान की जघन्य विशुद्धि कहना चाहिये। अर्थात् एक की उत्कृष्ट दूसरे की जघन्य इस क्रम से शेष सख्यातवे भाग के उत्कृष्ट स्थानो को छोडकर कहना चाहिये।

इस प्रकार से यथाप्रवृत्तकरण का स्वरूप जानना चाहिये। अव क्रमप्राप्त दूसरे करण अपूर्वकरण की स्वरूप-व्याख्या करते है।

अपूर्वकरण की विशुद्धि स्वरूप व्याख्या

जा उक्कोसा पढमे तीसेणन्ता जहण्णिया बीए।
करणे तीए जेट्ठा एव जा सव्वकरणपि ॥१०॥

शब्दार्थ—जा—जो, उक्कोसा—उत्कृष्ट, **पढमे**—प्रथम समय मे, **तीसेणता**—उससे अनन्तगुण, **जहण्णिया**—जघन्य, **बीए**—दूसरे समय की, **करणे**—करण में, **तीए**—उसी के, **जेट्ठा**—उत्कृष्ट, **एव**—इस प्रकार, **जा**—पर्यन्त, **सव्वकरणंपि**—सभी करणो में भी।

गाथार्थ—अपूर्वकरण के प्रथम समय मे जो उत्कृष्ट विशुद्धि है उससे दूसरे समय की जघन्य विशुद्धि अनन्तगुण होती है, उससे उसी (दूसरे) समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुणी है। इसी प्रकार सम्पूर्ण करण पर्यन्त जानना चाहिये।

विशेषार्थ—यथाप्रवृत्ताकरण के चरम समय मे जो उत्कृष्ट विशुद्धि होती है, उससे अपूर्वकरण के प्रथम समय की जघन्य विशुद्धि अनन्तगुणी होती है। उससे उसी प्रथम समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुणी होती है, उससे दूसरे समय की जघन्य विशुद्धि अनन्तगुणी होती है, उससे उसी समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुणी होती है, उससे तीसरे समय की जघन्य विशुद्धि अनन्तगुण होती है, उससे भी उसी तीसरे समय की उत्कृष्टविशुद्धि अनन्तगुण होती है। इस प्रकार प्रत्येक समय मे जघन्य-उत्कृष्ट विशुद्धि वहाँ तक कहना चाहिये यावत् अपूर्वकरण सम्पूर्ण हो।

यद्यपि अपूर्वकरण के प्रथम समय की जघन्य विशुद्धि सर्वस्तोक है, लेकिन वह भी यथाप्रवृत्तकरण की सर्वोत्कृष्ट विशुद्धि से अनन्तगुणी है। यहाँ सभी स्थान परस्पराक्रान्त है अत एक का जघन्य स्थान दूसरे का उत्कृप्ट स्थान, दूसरे का उष्कृष्ट स्थान तीसरे का जघन्य स्थान इत्यादि इस क्रम से अनन्तगुणी विशुद्धि कहना चाहिये। यह क्रम चरम उत्कृष्ट स्थान तक समझना।

अब इस करण मे और जो दूसरी विशेषताएँ होती है—उनको स्पष्ट करते है—

अपुव्वकरणसमग कुणइ अपुव्वे इमे उ चत्तारि।
ठितिघाय रसघायं गुणसेढी बधगद्धा य ॥११॥

शब्दार्थ—**अपुव्वकरणसमग**—अपूवकरण के साथ ही, **कुणइ**—होती हैं, **अपुव्वे**—अपूर्व, **इमे**—यह, **उ**—ही, **चत्तारि**—चार, **ठितिघाय**—स्थितिघात, **रसघाय**—रसघात, **गुणसेढी**—गुणश्रेणि, **बधगद्धा**—बधकाद्धा-स्थितिबध, **य**—और।

गाथार्थ—अपूर्वकरण के साथ ही स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि और स्थितिबध ये चार अपूर्व बाते होती है।

विशेषार्थ—जिस समय जीव अपूर्वकरण मे प्रवेश करता है, उसी समय से लेकर जिनका स्वरूप आगे कहा जायेगा और जिनको भूत काल मे किसी समय किया नही, इसीलिये अपूर्व ऐसी ये चार बाते—१ स्थितिघात, २ रसघात, ३ गुणश्रेणि और ४ बधकाद्धा—अपूर्व स्थितिबध—होती हैं।

इन चारो की विशद व्याख्या अनुक्रम से आगे करते है। उनमे से स्थितिघात का स्वरूप इस प्रकार है—

स्थितिघात

उक्कोसेण बहुसागराणि इयरेण पल्लसखस ।
ठितिअग्गाओ घायइ अन्तमुहुत्तेण ठितिखडं ॥१२॥

शब्दार्थ—**उक्कोसेण**—उत्कृष्ट से, **बहुसागराणि**—अनेक सागरोपम प्रमाण, **इयरेण**—इतर-जघन्य से, **पल्लसखस**—पल्योपम के सख्यातवे भाग प्रमाण, **ठितिअग्गाओ**—स्थिति के अग्रभाग से, **घायइ**—घात होता है, **अन्तमुहुत्तेण**—अन्तर्मुहूर्त काल मे, **ठितिखड**—स्थितिखण्ड का ।

गाथार्थ—स्थिति के अग्रभाग से उत्कृष्ट मे अनेक सागरोपम प्रमाण और इतर-जघन्य से पल्योपम के सख्यातवे भाग प्रमाण स्थितिखण्ड का अन्तर्मुहूर्त काल मे घात होता है ।

विशेषार्थ—सत्ता मे वर्तमान स्थिति के अग्रभाग से—अन्त के भाग से—उत्कृष्ट से अनेक सागरोपम प्रमाण और जघन्य से पल्योपम के सख्यातवे भाग प्रमाण स्थितिखण्ड का अन्तर्मुहूर्त काल मे घात होता है और घात होकर उसके दलिक के नीचे जिस स्थिति का घात नही होता है, वहाँ प्रक्षेप किया जाता है । तत्पश्चात् पुन पल्योपम के सख्यातवे भाग प्रमाण स्थितिखण्ड का अन्तर्मुहूर्त काल मे घात होता है और उसके दलिक का पहले कहे अनुसार नीचे प्रक्षेप किया जाता है । इस प्रकार से अपूर्वकरण के काल मे अनेक—हजारो स्थितिघात होते है । जिसमे अपूर्वकरण के प्रथम समय मे जितनी स्थिति की सत्ता होती है, उससे उसके चरम समय मे सख्यातवे भाग की सत्ता रह जाती है ।

स्थितिघात अर्थात् जितनी स्थिति का घात करना है उतनी स्थिति मे—काल मे भोगने योग्य दलिको को वहाँ से हटाकर भूमि को साफ करना । यानि निषेक रचना के समय जो दलिक उन स्थानो मे भोगने योग्य हुए थे उन दलिको को अन्य स्थान के दलिको के साथ

अर्थात् जिन स्थानो मे उन दलिको का प्रक्षेप किया जाता है, उनके साथ भोगने योग्य किया जाना।

अनेक सागरोपमप्रमाण या पल्योपम के सख्यातवें भाग प्रमाण स्थिति का घात होता है, यानि उतनी स्थिति मे भोगे जाये उतने दलिको को वहाँ से हटाकर उतनी भूमि को साफ किया जाना, जिससे उतनी स्थिति के दलिक अन्य स्थिति के साथ भोगे जाये वैसे किया जाना। निषेकरचना के समय उन स्थानो मे दलिक स्थापित किये गये थे, किन्तु स्थितिघात के समय मात्र अन्तर्मुहूर्त मे ही ऊपर कही उतनी स्थिति मे स्थापित दलिक अन्य स्थितियो मे या जिनका स्थिति-घात नही होना है, उनके साथ भोगे जा सके, उस रूप मे किया जाना। जिससे उतनी स्थिति मे भोगने योग्य दलिक नही रहते है। इसी कारण स्थिति का घात हुआ, स्थिति कम हुई, यह कहा जाता है।

इस प्रकार से स्थितिघात का स्वरूप जानना चाहिए। अब रसघात का स्वरूप कहते है।

रसघात

असुभाणतमुहुत्तेण हणइ रसकंडग अणतस।
किरणे ठितिखंडाण तंमि उ रसकडगसहस्सा ॥१३॥

शब्दार्थ—**असुभाणतमुहुत्तेण**—अशुभ प्रकृतियो के अन्तर्मुहूर्तकाल मे, **हणइ**—घात करता है, **रसकडग**—रसकडक का, **अणतस**—अनन्त भाग रूप, **किरणे**—उत्कीर्ण करने मे प्रवृत्त होकर, **ठितिखडाण**—एक स्थिति घात काल मे, **तमि उ**—उतने मे, **रसकडगसहस्सा**—हजारो रस कडक।

गाथार्थ—उत्कीर्ण करने मे प्रवृत्त होकर स्थितिघात करते हुए अशुभ प्रकृतियो के अनन्तभाग रूप सत्तागत रसकडक का

अन्तर्मुहूर्त काल मे घात करता है। एक स्थितिघातकाल मे हजारो रसकडको का घात होता है।

विशेषार्थ—गाथा मे कर्मप्रकृतियो के अनुभाग-रस के घात होने की प्रक्रिया का निर्देश किया है। रसघात यानि बध के समय जीव ने कापायिक अध्यवसायो द्वारा कर्म पुद्गलो मे जो फलदानशक्ति उत्पन्न की थी, उस शक्ति को कम करना।

अशुभ प्रकृतियो का जो रस सत्ता मे है, उसके अनन्तवे भाग को छोडकर शेप समस्त रस को अन्तर्मुहूर्त काल मे नाश करता है। उसके वाद पुन पूर्व मे शेप रहे अनन्तवे भाग के अनन्तवे भाग को छोडकर शेप रस को अन्तर्मुहूर्त काल मे नाश करता है। इस प्रकार से एक-एक स्थितिघात जितने काल मे हजारो रसघात होते है। हजारो स्थितिघातो द्वारा अपूर्वकरण पूर्ण होता है।

उक्त कथन का साराश यह है कि अपूर्वकरण के काल मे हजारो वार स्थितिघात होता है और एक स्थितिघात जितने काल मे हजारो वार रसघात हो जाता है। यानि विशुद्ध परिणाम के योग से आत्मा के गुणो की वध के समय उत्पन्न आवारक शक्ति को विशुद्धि के प्रमाण मे कम करता हे। सत्तागत अशुभ प्रकृतियो के रस के अनन्तवे भाग को छोडकर अनन्तवे भाग रूप एक खण्ड को अन्तर्मुहूर्त काल मे घात करता है। जिससे कि उस खण्ड मे के अमुक प्रमाण रस को पहले समय मे, अमुक प्रमाण रस को दूसरे समय मे, इस प्रकार क्षय करते-करते चरम समय मे उस रसखण्ड का पूर्णतया नाश होता है। उसके वाद पहले जो अनन्तवाँ भाग छोडा था उसका अनन्तवाँ भाग छोडकर अनन्त भाग को उपर्युक्त रीति से अन्तर्मुहूर्त काल मे घात करता है। इस प्रकार रस का घात होने से उत्तरोत्तर अल्प-अल्प रस वाले दलिक वध को प्राप्त होते हैं। ऐसा होने से अध्यवसायो की निर्मलता भी वढती जाती है।

इस प्रकार से रसघात का स्वरूप जानना चाहिए। अब गुणश्रेणि का स्वरूप बतलाते है।

गुणश्रेणि

> घाइय ठिईओ दलिय घेत्तु घेत्तु असंखगुणणाए।
> साहियदुकरणकालं उदयाइ रएइ गुणसेढि ॥१४॥

शब्दार्थ—**घाइय**—घात किये गये, **ठिईओ दलिय**—स्थिति के दलिको को, **घेत्तु-घेत्तु**—ग्रहण कर करके, **असखगुणणाए**—असख्यातगुण-असख्यातगुण रूप से, **साहियदुकरणकाल**—दोनो करणो की अपेक्षा से अधिक काल मे, **उदयाइ**—उदय से प्रारम्भ कर, **रएइ**—रचना होती है, **गुणसेढि**—गुणश्रेणि की।

गाथार्थ—घात किये गये स्थिति के दलिको मे से दलिको को ग्रहण कर-करके उदय से प्रारम्भ कर पूर्व-पूर्व समय से उत्तर-उत्तर के समय मे असख्यातगुण-असख्यातगुण रूप से दोनो करणो (अपूर्वकरण-अनिवृत्तिकरण) की अपेक्षा अधिक काल मे जो दल-रचना होती है, वह गुणश्रेणि है।

विशेषार्थ—जिस स्थिति का घात किया गया है, उसमे से दलिको को ग्रहण करके उन दलिको को उदयसमय से प्रारम्भ कर प्रत्येक समय मे ऊपर-ऊपर के प्रत्येक स्थान मे असख्य-असख्य गुण बढते अर्थात् पूर्व-पूर्व के समय की अपेक्षा उत्तर-उत्तर के समय मे असख्यात-असख्यात गुणाकार रूप मे स्थापित करना। जैसे कि उदय समय मे स्तोक स्थापित करना, दूसरे समय मे असख्यगुण रूप से स्थापित करना, तीसरे समय मे उससे भी असख्यातगुण अधिक स्थापित करना, इस प्रकार असख्यात-असख्यात गुणाकार रूप से जो दलरचना होती है, उसे गुणश्रेणि कहते है और इस प्रकार की दलरचना अपूर्वकरण एव अनिवृत्तिकरण के काल से कुछ अधिक समयो मे होती है।

इस तरह जिसका स्थितिघात होता है, उसमे से पहले समय में जो दलिक उठाये जाते है उनकी रचना का क्रम उक्त प्रकार है। दूसरे समय मे पहले समय की अपेक्षा असख्यातगुण दलिक लिये जाते हैं और उदयसमय से प्रारम्भ कर पूर्वोक्त क्रम से स्थापित किये जाते है। इस तरह पूर्व-पूर्व समय से उत्तर-उत्तर के समय मे असख्यातगुण-असख्यातगुण अधिक लिये जाते है और उनको भी उदय समय से प्रारम्भ कर पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तर-उत्तर के समय मे असख्यात-असख्यात गुणाकार रूप से स्थापित किये जाते है। इस तरह गुणश्रेणि क्रियाकाल के चरमसमय पर्यन्त जिसका स्थितिघात होता है उसमें से दलिको को ग्रहण करके उदय समय मे प्रारम्भ कर स्थापित किये जाते हैं। तथा—

अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण के समयो को अनुक्रम से अनुभव करते-करते क्षीण होने से गुणश्रेणि द्वारा होने वाला दलिकनिक्षेप अवशिष्ट समयो मे होता है किन्तु समय मर्यादा से ऊपर नही बढता है। यानि कि गुणश्रेणिक्रियाकाल के प्रथम समय मे—अपूर्वकरण के प्रथम समय मे जितने स्थानो मे दल रचना हुई थी, उससे उसके बाद के—दूसरे समय मे एक कम स्थान मे दलरचना होती है, तीसरे समय मे दो कम स्थान मे दलरचना होती है, इस तरह जैसे-जैसे अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण के समय भोगते-भोगते क्रमश कम होते जाते है, वैसे वैसे कम-कम स्थानो मे दल रचना होती है। अपूर्व-करण के प्रथम समय मे जो अन्तिम स्थान था, वही गुणश्रेणि क्रिया पूर्ण होने तक अन्तिम स्थान के रूप मे रहता है किन्तु दल रचना आगे नही बढती है।

इस प्रकार से गुणश्रेणि का स्वरूप जानना चाहिए। अब अपूर्व-स्थितिबंध का स्वरूप कहते है।

अपूर्वस्थितिबध

करणाइए अपुव्वो जो बधो सो न होइ जा अन्नो ।
बंधगद्धा सा तुल्लिगा उ ठिइकडगद्धाए ॥१५॥

शब्दार्थ—करणाइए—करण के आदि मे, अपुव्वो—अपूर्व, जो बधो—जो बध, सो न होइ—वह नही हो जा अन्नो—जब तक अन्य, बधगद्धा—बंधकाद्धा, सा—वह, तुल्लिगा—तुल्य, उ—और, ठिइकडगद्धाए—स्थितिकडक काल (स्थितिघात काल)।

गाथार्थ—अपूर्वकरण के आदि मे (प्रथम समय मे) जो बध होता है, उसकी अपेक्षा अन्य दूसरा स्थितिबध नही हो वहाँ तक के काल को बधकाद्धा कहते है, वह बधकाद्धास्थितिघात काल तुल्य है।

विशेषार्थ—एक स्थितिबध के काल को बधकाद्धा कहते हैं। अपूर्वकरण के प्रथम समय मे जो स्थितिबध प्रारम्भ हुआ है, वही स्थितिबध जब तक रहे, नया प्रारम्भ न हो, वहाँ तक के काल को बधकाद्धा-बंधकाल कहते है और वह स्थितिघात के समान है। स्थितिघात और अपूर्व स्थितिबध एक साथ ही प्रारम्भ होते हैं और साथ ही पूर्ण होते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि एक स्थितिघात करते जितना काल होता है, उतना ही काल एक स्थितिबध करते हुए भी होता है, तत्पश्चात् नवीन बध प्रारम्भ होता है।

ऐसा करने का जो परिणाम होता है, उसका उपसहार करते हुए अब अनिवृत्तिकरण का स्वरूप प्रतिपादन करना प्रारम्भ करते है।

अपूर्वकरण का उपसहार अनिवृत्तिकरण का निरूपण

जा करणाईए ठिई करणन्ते तीइ होइ संखसो ।
अणिअट्टिकरणमओ मुत्तावलिसंठियं कुणइ ॥१६॥

शब्दार्थ—जा—जो, करणाईए—अपूर्वकरण के प्रारम्भ मे, ठिई—स्थिति, करणते—करण के अन्त मे, तीइ—उसका, होइ—होता है, सखसो—सख्यातवाँ भाग, अणिअट्टिकरणमओ—इसके बाद अनिवृत्तिकरण, मुत्तावलिसठिय—मुक्तावली के आकार रूप, कुणइ—करता है।

गाथार्थ—अपूर्वकरण के प्रारम्भ मे जो स्थिति की सत्ता थी, उसका सख्यातवाँ भाग करण के अन्त मे शेष रहता है। उसके बाद मुक्तावली के आकार रूप अनिवृत्तिकरण को करता है।

विशेषार्थ—अपूर्वकरण के प्रथम समय मे जितनी स्थिति की सत्ता थी, उसमे से हजारो स्थितिघातो के द्वारा क्रमश क्षीण होते-होते अपूर्वकरण के चरम समय मे सख्यातवे भाग जितनी ही अवशिष्ट रहती है।

इस प्रकार से अपूर्वकरण मे स्थितिघात आदि चार पदार्थ प्रवर्तमान होते है और इनके पश्चात् अनिवृत्तिकरण प्रारम्भ होता है। जो पहले छोटा मोती उसके बाद क्रमश उत्तरोत्तर पूर्व की अपेक्षा बडा इस तरह मुक्ताहार के आकार का होता है। इसका कारण यह है कि अनिवृत्तिकरण मे तिर्यग्मुखी विशुद्धि नही होती है, मात्र ऊर्ध्वमुखी विशुद्धि ही होती है। जिसमे अनिवृत्तिकरण के किसी भी समय मे एक साथ चढे हुए सभी जीवो के एक समान परिणाम होते है और पूर्व-पूर्व समय की अपेक्षा उत्तर-उत्तर के समय मे अनन्तगुण विशुद्ध होते है। इसी कारण यह करण मुक्तावली के आकार वाला बताया है। तथा—

> एवमनियट्टीकरणे ठितिघायाईणि होंति चउरो वि।
> सखेज्जसे सेसे पढमठिई अतर च भवे ॥१७॥

शब्दार्थ—एवमनियट्टीकरणे—इसी प्रकार से अनिवृत्तिकरण मे, ठितिघायाईणि—स्थितिघातादि, होंति—होते है चउरो वि—चारो ही सखेज्जसे—सख्यातवा भाग, सेसे—शेष रहने पर, पढमठिई—प्रथमस्थिति, अतर—अतरकरण, च—और, भवे—होता है।

गाथार्थ—इसी प्रकार से (अपूर्वकरण की तरह) अनिवृत्तिकरण मे भी स्थितिघात आदि चारो ही होते है और अनिवृत्तिकरण का सख्यातवा भाग शेष रहने पर प्रथमस्थिति और अतरकरण होता है।

विशेषार्थ—अपूर्वकरण के अनुरूप ही अनिवृत्तिकरण मे भी स्थितिघात आदि चारो पदार्थ प्रवर्तित होते है। इस तरह स्थितिघात आदि होते-होते अनिवृत्तिकरण के सख्यात भाग बीत जाये और एक सख्यातवा भाग शेष रहता है तब अनिवृत्तिकरण का जितना काल शेष रहता है, उतने ही काल मे भोगी जा सके उतनी मिथ्यात्व की स्थिति को रखकर ऊपर की स्थिति का अतरकरण होता है।

अतरकरण यानि अन्तमुंहूर्त मे भोगे जायें उतने स्थानो के दलिकों को वहाँ से हटाकर शुद्ध—दलिकरहित—भूमि का बनाना। यद्यपि शुद्धभूमि का नाम ही अतरकरण है परन्तु वहाँ से दलिक हटे बिना शुद्धभूमि होती नही, इसलिये कारण मे कार्य का आरोप करके अन्तरकरणक्रियाकाल को भी अतरकरण कहा जाता है।

यह अतरकरण—मिथ्यात्व के दलिक विहीन शुद्ध भूमि—प्रथम स्थिति के अन्तमुंहूर्त से कुछ अधिक अन्तमुंहूर्त प्रमाण है। अर्थात् प्रथमस्थिति का जितना काल है, उससे अतरकरण—शुद्धभूमि—उपशम सम्यक्त्व का काल कुछ अधिक है। तथा—

> अतमुहुत्तियमेत्ताइ दोवि निम्मवइ बधगद्धाए।
> गुणसेढिसखभाग अतरकरणेण उक्किरइ ॥१८॥

शब्दार्थ—**अतमुहुत्तियमेत्ताइ**—अन्तमुंहूर्त प्रमाण, **दोवि** दोनो को, **निम्मवइ**—बनाता है, **बधगद्धाए**—बधकाद्धा, **गुणसेढिसखभाग**—गुणश्रेणि के सख्यातवें भाग को, **अतरकरणेण**—अन्तरकरण के साथ, **उक्किरइ**—उत्कीर्ण करता है।

गाथार्थ—दोनो को अन्तर्मुहूर्त प्रमाण करता है तथा (अतर-करणक्रियाकाल) बधकाद्धा तुल्य है। अतरकाल के साथ गुणश्रेणि के सख्यातवे भाग को भी उत्कीर्ण करता है।

विशेषार्थ—प्रथमस्थिति और अन्तरकरण ये दोनो अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है और दोनो साथ ही होते है। मात्र प्रथमस्थिति के अन्तर्मुहूर्त से अन्तरकरण का अन्तर्मुहूर्त कुछ बडा है तथा अन्तरकरणक्रियाकाल अपूर्वस्थितिबध के जितना है। अर्थात् जिस समय अपूर्वस्थितिबध प्रारम्भ होता है उसी समय अतरकरण—अतर डालने की क्रिया—शुद्ध भूमि करने की क्रिया—अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थानो के दलिको को हटाकर शुद्धभूमि करने की किया प्रारम्भ होती है और अपूर्वस्थिति-बध पूर्ण होने के साथ ही अन्तरकरणक्रिया भी पूर्ण होती है और उतनी भूमि शुद्ध होती है। इसीलिये यह कहा है कि अन्तरकरण अभि-नव स्थितिबध के काल प्रमाण काल मे करता है। अन्तरकरण के प्रथम समय मे ही मिथ्यात्व का अन्य स्थितिबध प्रारम्भ करता है, वह स्थितिबध और अन्तरकरण एक साथ हो पूर्ण होने है तथा गुणश्रेणि के जो सख्यात भाग प्रथम और द्वितीय स्थिति के आश्रय से रहे हुए है, उनका एक सख्यातवा भाग अन्तरकरण के दलिको के साथ ही नाश करता है और पूर्व मे जो यह कहा गया है कि गुणश्रेणि द्वारा जितने स्थानो मे दलरचना होती है वे स्थान अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन दोनो के समुदित काल से अधिक है, यानि जब अन्तरकरण क्रिया प्रारम्भ करता है तब भी अन्तरकरण मे और उससे ऊपर की द्वितीय स्थिति मे दलरचना होती है। इसी कारण अन्तरकरण के साथ गुण-श्रेणि द्वारा स्थापित किये गये दलिक भी उत्कीर्ण किये जाते है।

अब अन्तरकरण की विधि का निर्देश करते है।

अन्तरकरण विधि

अतरकरणस्स विहि घेत्तु घेत्तु ठिईउ मज्झाओ।
दलियं पढमठिईए विच्छुभई तहा उवरिमाए ॥१६॥

शब्दार्थ—**अतरकरणस्स**—अतरकरण की **विहि**—विधि, **घेत्तु**-घेत्तु—ग्रहण कर करके, **ठिईउमज्झाओ**—स्थिति के मध्य मे से, **दलिय**—दलिको को, **पढमठिईए**—प्रथम स्थिति मे, **विच्छुभई**—प्रक्षिप्त करता है, **तहा**—तथा, **उवरिमाए**—ऊपर की (द्वितीय) स्थिति मे ।

गाथार्थ—अतरकरण की विधि यह है कि (अन्तरकरण की) स्थिति के मध्य मे से दलिको को ग्रहण करके प्रथम स्थिति मे और ऊपर की (द्वितीय) स्थिति मे प्रक्षिप्त करता है ।

विशेषार्थ—अन्तर्मुहूर्त प्रमाण अन्तरकरण की स्थिति मे से दलिको को ग्रहण करके कुछ को प्रथम स्थिति मे और कुछ को द्वितीय स्थिति मे प्रक्षिप्त करता है। अर्थात् कितने ही दलिको को प्रथम स्थिति के कर्माणुओ के साथ भोगने योग्य और कितने ही दलिको को द्वितीय स्थिति के कर्माणुओ के साथ भोगे जा सकने योग्य करता है। इस प्रकार से वहा तक जानना चाहिये कि अन्तरकरण के समस्त दलिको का नाश हो और भूमिका शुद्ध हो। समस्त दलिको का क्षय अन्तर्मुहूर्त काल मे होता है और इस अन्तर्मुहूर्त का प्रमाण स्थितिघात के काल जितना है। तथा—

इगदुगआवलिसेसाइ णत्थि पढमा उदीरणागालो ।
पढमठिईए उदीरण बीयाओ एइ आगाला ॥२०॥

शब्दार्थ—**इगदुगआवलिसेसाइ**—एक-दो आवलिका शेष रहे तब, **णत्थि**—नही होते हैं, **पढमा**—प्रथम स्थिति मे, **उदीरणागालो**—उदीरणा और आगाल, **पढमठिईए**—प्रथमस्थिति मे से, **उदीरणा**—उदीरणा, **बीयाओ**—द्वितीय स्थिति मे से, **एइ**—आते हैं, **आगाला**—आगाल ।

गाथार्थ—प्रथमस्थिति की जब एक और दो आवलिका शेष रहे तब अनुक्रम से उदीरणा और आगाल नही होते है। प्रथम-स्थिति मे से जो दलिक उदीरणा प्रयोग से उदय मे आते है उसे उदीरणा और द्वितीय स्थिति मे से जो उदय मे आते है उसे आगाल कहते है।

विशेषार्थ—प्रथमस्थिति मे वर्तमान आत्मा उदयावलिका से ऊपर के प्रथम स्थिति के दलिको को उदीरणाप्रयोग से खीचकर जो उदयावलिका मे प्रक्षिप्त करती है, उसे उदीरणा कहते है और दूसरी स्थिति मे से उदीरणाप्रयोग से खीचकर उदयावलिकागत दलिको के साथ भोगे जाये—वैसे करने को उदयावलिका मे रखने को आगाल है। अतरकरणक्रिया शुरू होने के बाद प्रथम स्थिति मे से जो दलिक खीचे जाते है वह उदीरणा और द्वितीय स्थिति मे से जो दलिक खीचे जाते है वह आगाल है। इस प्रकार विशेष बोध कराने के लिये पूर्वाचार्यो ने आगाल यह उदीरणा का दूसरा नाम कहा है।

उदय और उदीरणा द्वारा प्रथम स्थिति अनुभव करती आत्मा वहा तक जाती है यावत् प्रथम स्थिति की दो आवलिका शेष रहे तब यहा से आगाल बंद हो जाता है, मात्र उदीरणा ही प्रवर्तित होती है और वह भी प्रथम स्थिति की एक आवलिका शेष न रहे, वहाँ तक ही होती है। प्रथमस्थिति की एक आवलिका शेष रहने पर उदीरणा भी बंद हो जाती है। शेष रही उस अतिम आवलिका को उदय द्वारा ही भोग लेती है। तथा—

आवलिमेत्ता उदएण वेइउ ठाइ उवसमद्धाए।
उवसमिय तत्थ भवे सम्मत्तं मोक्खबीय ज ॥२१॥

शब्दार्थ—आवलिमेत्त—आवलिका मात्र दलिक को, उदएण—उदय से, वेइउ—वेदन करके, ठाइ—स्थित होता है, उवसमद्धाए—उपशम-अद्धा मे, उवसमिय—औपशमिक, तत्थ—वहा, भवे—प्राप्त होता है, सम्मत्त—सम्यक्त्व, मोक्खबीय—मोक्ष का बीज, ज—जो।

गाथार्थ—आवलिकामात्र दलिक को उदय से वेदन कर जब उपशम-अद्धा मे स्थित होता है, वहाँ जो मोक्ष का बीज है, वह औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है।

विशेषार्थ—प्रथम स्थिति के अन्तिम आवलिका गत दलिक को जब जीव केवल उदय से अनुभव कर अन्तरकरण मे—शुद्धभूमि मे

उपशान्ताद्धा मे प्रवेश करता है तो उसके पहले समय से ही वह उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करता है।[1] जो मोक्ष का बीज रूप—कारण रूप है। क्योकि सम्यक्त्व के बिना मोक्ष प्राप्त नही होता है।

उवरिमठिइ अनुभाग त च तिहा कुणइ चरिममिच्छुदए।
देसघाईण सम्म इयरेण मिच्छमीसाइ ॥२२॥

सम्मे थोवो मीसे असखओ तस्ससखओ सम्मे।
पइसमय इय खेवो अन्तमुहुत्ता उ विज्झाओ ॥२३॥

शब्दार्थ—**उवरिमठिइ**—ऊपर की (द्वितीय) स्थिति के, **अणुभाग**—अनुभागरस को, **त**—उसको, **च**—और **तिहा**—तीन प्रकार का, **कुणइ**—करता है **चरिममिच्छुदए**—चरम समय मे मिथ्यात्व के उदय मे, **देसघाईण**—देशघाति, **सम्म**—सम्यक्त्वमोहनीय को, **इयरेण**—इतर सर्वघाती, **मिच्छमीसाइ**—मिश्र और मिथ्यात्व मोहनीय को।

सम्मे—सम्यक्त्व मे, **थोवो**—स्तोक-अल्प, **मीसे**—मिश्र मे, **असखओ**—असख्यात गुण, **तस्ससखओ**—उससे भी असख्यात गुण, **सम्मे**—सम्यक्त्व मे, **पइसमय**—प्रत्येक समय, **इय**—यह, **खेवो**—प्रक्षेप, **अन्तमुहुत्ता**—अन्तर्मुहूर्त, **उ**—और, **विज्झाओ**—विध्यातसक्रमण।

---

१ अन्तरकरण मे मिथ्यात्व के दलिक नही होने से उसके पहले समय मे ही उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करता है। जितने समय मे भोगने योग्य दलिको को हटाकर भूमि साफ की उतने समय को उपशान्ताद्धा अथवा अन्तरकरण कहा जाता है। उपशम सम्यक्त्व प्राप्त होने मे मिथ्यात्व प्रतिबधक है। अन्तरकरण मे उसके नही होने से उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करता है। जब तक शुद्ध की हुई भूमि शुद्धभूमि रूप मे रहती है, तब तक ही सम्यक्त्व भी रहता है।

गाथार्थ—प्रथम स्थिति के चरम समय मे मिथ्यात्व के उदय मे रहते द्वितीय स्थिति के अनुभाग-रस को तीन प्रकार का करता है। उसमे सम्यक्त्वमोहनीय को देशघातीरसयुक्त और मिश्र तथा मिथ्यात्वमोहनीय को सर्वघातीरसयुक्त करता है।

प्रथम समय मे सम्यक्त्वमोहनीय मे स्तोक-अल्प और मिश्र-मोहनीय मे असख्यातगुण सक्रम होता है। उससे दूसरे समय मे सम्यक्त्वमोहनीय मे असख्यातगुण, इस प्रकार प्रतिसमय अन्त-र्मुहूर्त पर्यन्त सक्रम होता है और उसके बाद विध्यातसक्रम होता है।

विशेषार्थ—प्रथम स्थिति के चरम समय मे मिथ्यात्व के उदय मे वर्तमान मिथ्यादृष्टि द्वितीयस्थितिसम्बन्धी कर्मपरमाणुओ के रस को विशुद्धि के वल से तीन प्रकार का करता है। अर्थात् द्वितीय स्थिति मे वर्तमान मिथ्यात्वमोहनीय के दलिको को रसभेद से तीन विभागो मे विभाजित कर देता है। यह क्रिया अनिवृत्तिकरण के चरमसमय मे—प्रथम स्थिति को अनुभव करते-करते एक समय शेप रहे, उस अन्तिम समय से—प्रारम्भ होती है।

वे तीन विभाग इस प्रकार हैं—शुद्ध, अर्धविशुद्ध और अशुद्ध। उनमे से शुद्ध पुञ्ज का नाम सम्यक्त्वमोहनीय है और उसका रस एक-स्थानक तथा मन्द द्विस्थानक एव देशघाति है। अर्धविशुद्ध पुञ्ज का नाम मिश्रमोहनीय है और उसका रस मध्यम द्विस्थानक तथा सर्व-घाती है। अशुद्ध पुञ्ज का नाम मिथ्यात्वमोहनीय है और उसका रस तीव्र द्विस्थानक, त्रिस्थानक, चतु स्थानक तथा सर्वघाति है।

जिस समय उपशम सम्यक्त्व प्राप्त होता है, उस समय से लेकर मिथ्यात्वमोहनीय के पुद्गल-दलिको को मिश्र और सम्यक्त्वमोहनीय मे पूर्व-पूर्व समय की अपेक्षा उत्तर-उत्तर के समय मे असख्यात-असख्यात गुणाकार रूप से सक्रमित करता है। यद्यपि मिथ्यात्वमोहनीय के रस को घटाकर—कम कर यथाप्रवृत्तसक्रम द्वारा मिश्र और सम्यक्त्व-

मोहनीय रूप करने की क्रिया अनिवृत्तिकरण के चरम समय से प्रारम्भ होती है, परन्तु गुणसक्रम चतुर्थ गुणस्थान के प्रथम समय से प्रारम्भ होता है और वह गुणसक्रम इस प्रकार होता है—

जिस समय उपशमसम्यक्त्व प्राप्त होता है, उसी समय मिथ्यात्व-मोहनीय के दलिक सम्यक्त्वमोहनीय मे स्तोक-अल्प सक्रमित होते हैं और उसी समय मिश्रमोहनीय मे असख्यातगुण दलिक सक्रमित होते है। दूसरे समय मे प्रथम समय मिश्रमोहनीय मे सक्रमित हुए दलिको से असख्यातगुण सम्यक्त्वमोहनीय मे सक्रमित होते है, उनसे उसी समय मिश्रमोहनीय मे असख्यातगुण सक्रमित होते है। तीसरे समय मे दूसरे समय मिश्रमोहनीय मे सक्रमित हुए दलिको से असख्यातगुण सम्यक्त्वमोहनीय मे सक्रमित होते है, उनसे उसी समय मिश्रमोहनीय मे असंख्यातगुण सक्रमित होते है। इस क्रम से प्रति समय सम्यक्त्व और मिश्रमोहनीय मे मिथ्यात्वमोहनीय का गुणसक्रम अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त होता है। इसके पश्चात् विध्यातसक्रम प्रवर्तित होता है। तथा—

> गुणसकमेण एसो संकमो होइ सम्ममीसेसु ।
> अतरकरणमि ठिओ कुणइ जओ स पसत्थगुणो ॥२४॥

शब्दार्थ—**गुणसकमेण**—गुण सक्रम द्वारा, **एसो**—यह, **सकमो**—सक्रम, **होइ**—होता है, **सम्ममीसेसु**—सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय मे, **अतरकरणमि**—अतरकरण मे, **ठिओ**—स्थित रहकर, **कुणइ**—करता है, **जओ**—क्योकि, **स**—वह, **पसत्थगुणो**—प्रशस्त गुण युक्त।

गाथार्थ—ऊपर कहे अनुसार सक्रम सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय मे गुणसक्रम द्वारा होता है और वह अतरकरण मे रहते हुए करता है। क्योकि वहाँ वह (जीव) प्रशस्त गुण युक्त है।

विशेषार्थ—मिथ्यात्वमोहनीय के पुद्गलो का मिश्र और सम्यक्त्व मोहनीय मे सक्रम गुणसक्रम द्वारा होता है। क्योकि अतरकरण मे

वर्तमान जीव (आत्मा) उपशमसम्यक्त्वरूप प्रशस्त गुणयुक्त है और प्रशस्त गुणयुक्त आत्मा सक्रम करती है। इसलिये अतरकरण मे रही आत्मा के गुणसक्रम[1] प्रवर्तित होता है।

प्रश्न—मिथ्यात्वमोहनीय का उपशम करते अपूर्वकरण मे गुण-सक्रम क्यो नही होता है ?

उत्तर—उस समय मिथ्यात्वमोहनीय का वध होता है। मिथ्यात्व-मोहनीय का जब तक उदय हो, तब तक वध भी होता है। अनिवृत्ति-करण के चरम समय पर्यन्त उदय है, अत वध भी वहा तक है। वधती हुई प्रकृतियो का गुणसक्रम नही होता है और अतरकरण मे उसका उदय नही है, इसलिये वध भी नही है। जिससे अतरकरण मे मिथ्यात्वमोहनीय का गुणसक्रम होता है, यह कहा है। तथा—

गुणसंकमेणसमगं तिण्णि थक्कत आउवज्जाण।
मिच्छत्तस्स उ इगिदुगआवलिसेसाए पढमाए ॥२५॥

शब्दार्थ—*गुणसकमेणसमग*—गुणसक्रम के साथ, **तिण्णि**—तीनो, *थक्कत*—रुक जाते है, **आउवज्जाण**—आयुर्वजित, **मिच्छत्तस्स**—मिथ्यात्व की, *उ*—और, **इगिदुगआवलिसेसाए**—एक और दो आवलिका शेप रहने पर, **पढमाए**—प्रथम स्थिति मे।

गाथार्थ—गुणसक्रम के साथ ही आयुर्वजित शेष कर्मो मे तीनो (स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि) और मिथ्यात्व की भी प्रथम स्थिति मे एक और दो आवलिका शेष रहने पर पूर्वोक्त तीनो रुक जाते हैं।

---

1 अपूर्वकरण से प्रारम्भ कर अवध्यमान अशुभप्रकृतियो के दलिको को पूर्व-पूर्व समय की अपेक्षा उत्तर-उत्तर के समय मे असख्यात-असख्यात गुणाकार रूप से स्वजातीय वधती प्रकृति रूप करने को गुणसक्रम कहते हैं—गुणसकमो अवज्झन्तिगाण असुभाणपुव्वकरणादी। गुणसक्रम का विशेप लक्षण सक्रमकरण गाथा ७७ मे देखिए।

विशेषार्थ—जब तक मिथ्यात्वमोहनीय का गुणसक्रम होता है, तब तक आयु के बिना शेष सात कर्मो मे स्थितिघात, रसघात और गुणश्रेणि प्रवर्तित होती है। किन्तु जब गुणसक्रम होना बद होता है तब स्थितिघातादि भी बद हो जाते हैं तथा जब तक मिथ्यात्वमोहनीय की प्रथम स्थिति की एक आवलिका शेप रही हुई होती नही है, तब तक उसका स्थितिघात, रसघात होता है और एक आवलिका वाकी रहे तब वे दोनो बद हो जाते हैं तथा मिथ्यात्वमोहनीय की प्रथम स्थिति की दो आवलिका जब तक वाकी रही हुई होती नही है, तब तक गुणश्रेणि भी होती है और दो आवलिका शेष रहे तब उसमे गुणश्रेणि होना बद हो जाता है। तथा—

उवसतद्धाअते विइए ओकड्ढियस्स दलियस्स।
अज्झवसाणविसेसा एकस्सुदओ भवे तिण्ह ॥२६॥

शब्दार्थ—**उवसतद्धाअते**—उपशान्ताद्धा के अत मे, **विइए**—विधि द्वारा, **ओकड्ढियस्स**—अपकर्षित, **दलियस्स**—दलिको का, **अज्झवसाणविसेसा**—अध्यवसाय विशेप से, **एकस्सुदओ**—एक का उदय, **भवे**—होता है, **तिण्ह**—तीन प्रकारो मे से।

गाथार्थ—उपशान्ताद्धा के अत मे विधि द्वारा अपकर्षित किये गये तीन प्रकार के दलिको मे से अध्यवसाय विशेष से एक का उदय होता है।

विशेषार्थ—उपशमसम्यक्त्व के अन्तरकरण के अतर्मुहूर्त काल का कुछ अधिक एक आवलिका काल शेष रहे तब उस समयाधिक काल पर्यन्त दूसरी स्थिति मे रहे सम्यक्त्व, मिश्र और मिथ्यात्व मोहनीय के दलिको को अध्यवसाय द्वारा आकृष्ट कर अतरकरण की अतिम आवलिका मे स्थापित करता है। स्थापित करने का क्रम इस प्रकार है—प्रथम समय मे बहुत स्थापित करता है। द्वितीय समय मे उससे स्तोक, तृतीय समय मे उससे स्तोक इस क्रम से आवलिका के चरम समय पर्यन्त स्थापित करता है। स्थापित किये गये उन दलिको की रचना

गोपुच्छाकार होती है। जब कुछ अधिक काल पूर्ण हो और एक आव-लिका काल शेष रहे तब अध्यवसाय के अनुसार तीनो पुंजो मे से किसी एक पुंज का उदय होता है। उस समय शुभ (उत्कृष्ट) परिणाम हो तो सम्यक्त्वपुंज का, मध्यम परिणाम हो तो मिश्रपुंज का और जघन्य परिणाम हो तो मिथ्यात्वपुंज का उदय होता है। यदि सम्यक्त्वपुंज का उदय हो तो क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। मिश्रपुंज का उदय होने पर तीसरा और मिथ्यात्वपुंज का उदय होने पर पहला गुणस्थान प्राप्त होता है। तथा—

छावलियासेसाए उवसमअद्धाइ जाव इगसमय।
असुभपरिणामओ कोइ जाइ इह सासणत्तंपि ॥२७॥

शब्दार्थ—छावलियासेसाए—छह आवलिका काल शेष रहने पर, उवसम-अद्धाइ—उपशमसम्यक्त्व अद्धा में, जाव—यावत्, इगसमय—एक समय, असुभपरिणामओ—अशुभ परिणाम होने से, कोई—कोई, जाइ—जाता है, इह—यहां, सासणत्तं पि—सासादनत्व में भी।

गाथार्थ—उपशमसम्यक्त्व-अद्धा (काल) मे, एक समय यावत् छह आवलिका काल शेष रहने पर अशुभ परिणाम होने से कोई सासादनत्व मे भी जाता है।

विशेषार्थ—उपशमसम्यक्त्व—अंतरकरण—का जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह आवलिका जितना काल शेष रहे, तब किसी को अनन्तानुबंधिकषाय का उदय होता है और उसका उदय होने से दूसरा सासादनगुणस्थान प्राप्त करता है और उसके बाद वहां से गिरकर वह अवश्य ही मिथ्यात्व को प्राप्त करता है। तथा—

सम्मत्तेण समगं सव्वं देसं च कोइ पडिवज्जे।
उवसंतदंसणी सो अंतरकरणे ठिओ जाव ॥२८॥

शब्दार्थ—**सम्मत्तेण समग**—सम्यक्त्व के साथ, **सव्व**—सर्वविरति, **देस**—देशविरति, **च**—और, **कोइ**—कोई, **पडिवज्जे**—प्राप्त करता है, **उवसतदसणी**—उपशमसम्यक्त्वी; **सो**—वह, **अतरकरणो**—अन्तरकरण मे, **ठिओ**—स्थित है, **जाव**—तक, पर्यन्त ।

गाथार्थ—सम्यक्त्व के साथ कोई देशविरति और सर्वविरति प्राप्त करता है । जब तक अन्तरकरणमे स्थित है, तव तक वह उपशमसम्यक्त्वी है ।

विशेषार्थ—उपशमसम्यक्त्व के साथ ही कोई-कोई देशविरतित्व और सर्वविरतित्व को प्राप्त होते हैं । अर्थात् वे पहले से सीधे पाचवे और छठे गुणस्थान मे जाते है किन्तु सासादन भाव को प्राप्त नही करते है ।

उपशमसम्यग्दृष्टि तब तक जानना चाहिये जब तक अन्तरकरण-अवस्था रहती है और अन्तरकरण-अवस्था तव तक रहती है, जब तक अनन्तानुबधिकषाय का उदय नही होता है । अध्यवसायो की निर्मलता के अनेक भेद है । कोई तीन करण करके पहले से चौथे गुणस्थान मे ही जाता है । कोई तीव्रविशुद्धि वाला मिथ्यात्व को उपशमित करने के साथ अप्रत्याख्यानावरणकषाय का भी क्षयोपशम कर पहले से पाचवे गुणस्थान को और अतितीव्र विशुद्धपरिणाम वाला कोई दूसरी और तीसरी इस तरह दोनो कषायो का क्षयोपशम कर पहले गुणस्थान से सर्वविरति भाव को भी प्राप्त करता है । उस-उस गुण का अनुसरण करके क्रम से प्रवर्धमान विशुद्धि वाली आत्मायें पहले गुणस्थान से चौथे, पाचवे, छठे या सातवे गुणस्थान मे जा सकती है, इसमे कोई विरोध नही है ।

इस प्रकार से प्रथमसम्यक्त्वोत्पाद प्ररूपणा का आशय जानना चाहिये । अब पूर्वोक्त क्रमानुसार चारित्रमोहनीय की उपशमना का विचार भी विस्तार से करना चाहिये । अतएव चारित्रमोहनीय की उपशमना का निरूपण प्रारभ करते है ।

चारित्रमोहनीयोपशमना देशविरति-सर्वविरति लाभ स्वामित्व

वेयगसम्मद्दिट्ठि सोही अद्धाए अजयमाईया।
करणदुगेण उवसम चरित्तमोहस्स चेट्ठति ॥२९॥

शब्दार्थ—**वेयगसम्मद्दिट्ठि**—वेदक (क्षायोपशमिक) सम्यग्दृष्टि, **सोही**—विशुद्धि, **अद्धाए**—काल मे वर्तमान, **अजयमाईया**—अविरतसम्यग्दृष्टि, **करण-दुगेण**—दो करणो द्वारा, **उवसम**—उपशम, **चरित्तमोहस्स**—चारित्रमोहनीय का, **चेट्ठति**—प्रयत्न करते हैं।

गाथार्थ—विशुद्धि काल मे वर्तमान अविरतसम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थान वाले वेदक (क्षायोपशमिक) सम्यग्दृष्टि दो करण के द्वारा चारित्रमोहनीय के उपशम का प्रयत्न करते है।

विशेषार्थ—गाथा मे चारित्रमोहनीय के उपशम करने वाले अधि-कारी-स्वामी का निर्देश किया है—

जिसने सक्लिष्ट परिणाम का त्याग किया है और जो विशुद्ध परिणामो मे वर्तमान है, ऐसा वेदकसम्यग्दृष्टि-क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टि अविरत, देशविरत, प्रमत्त और अप्रमत्तासयत गुणस्थानो मे से किसी एक गुणस्थान मे वर्तमान है, वह दो करण—यथाप्रवृत्त तथा अपूर्वकरण द्वारा चारित्रमोहनीय को उपशमित करने के लिए यथायोग्य रीति से प्रयत्न करता है और तीसरे—अनिवृत्तिकरण से तो साक्षात् उपशात करता ही है, इसीलिये यहाँ आदि के दो करणो द्वारा प्रयत्न करता है, यह सकेत किया है।

अब इसी प्रसग मे अविरतसम्यग्दृष्टि आदि का स्वरूप बत-लाते हैं।

अविरतसम्यग्दृष्टि आदि का स्वरूप

जाणणगहणणुपालणविरओ विरई अविरओण्णेसु।
आईमकरणदुगेण पडिवज्जइ दोण्हमण्णयर ॥३०॥

शब्दार्थ—जाणणगहणणुपालणविरओ—ज्ञान, ग्रहण और अनुपालन द्वारा विरत, **विरई**—विरत है, **अविरओण्णेसु**—अन्य भगो मे वर्तमान अविरत है, **आइमकरणदुगेण**—आदि के दो करणो द्वारा, **पडिवज्जइ**—प्राप्त करता है, **दोण्हमण्णयर**—दोनो मे से अन्यतर एक को।

गाथार्थ—ज्ञान, ग्रहण और अनुपालन द्वारा जो विरत है वह विरत है, अन्य भगो द्वारा अविरत है। आदि के दो करणो द्वारा दोनो मे से अन्यतर (देशविरति या सर्वविरति)—किसी एक को प्राप्त करता है।

विशेषार्थ—विरति-व्रत का यथार्थ ज्ञान, उसका विधिपूर्वक ग्रहण और अनुपालन करने से विरत होता है अर्थात् विधिपूर्वक आत्मसाक्षी और गुरुसाक्षी से व्रतो का उच्चारण करने रूप ग्रहण, ग्रहण किये व्रतो को बराबर पालन करने रूप अनुपालन तथा व्रतो का सम्यक् प्रकार से यथार्थ ज्ञान होने पर व्रती या विरत होता है। उसमे जिसने त्रिविध—मन-वचन-काया द्वारा उनके पापव्यापार से विराम ले लिया है, वह सर्वविरति कहलाता है और जिसने देश से—आशिक विराम लिया—त्याग किया है उसे देशविरति कहते है तथा ज्ञान-ग्रहण-अनुपालन रूप भग के सिवाय अन्य भग मे जो वर्तमान है, वह अविरत है। जिसका विस्तृत स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

ज्ञान, ग्रहण और अनुपालन रूप तीन पद के निम्नलिखित आठ भग होते है—

१ अज्ञान—अग्रहण—अपालन,
२ अज्ञान—अग्रहण—पालन,
३ अज्ञान—ग्रहण—अपालन,
४ अज्ञान—ग्रहण—पालन,
५ ज्ञान—अग्रहण—अपालन,
६ ज्ञान—अग्रहण—पालन,
७ ज्ञान—ग्रहण—अपालन,
८ ज्ञान—ग्रहण—पालन।

इन आठ भगो मे से आदि के सात भगो मे वर्तमान आत्मा तो अविरत है। क्योकि उसमे यथायोग्य रीति से सम्यग्ज्ञान, सम्यग् ग्रहण या सम्यक् पालन नही है। सम्यग्ज्ञान और सम्यग्ग्रहणपूर्वक पालन किये जाने वाले,व्रत ही मोक्ष रूप फल को प्रदान करते है, परन्तु सम्यक्-ज्ञान और सम्यगग्रहण के सिवाय घुणाक्षर न्याय से ,पाले जाने पर भी वे व्रत फलप्रद नही होते है। सात भगो मे से आदि के चार भगो मे तो सम्यग्ज्ञान का ही अभाव है और उसके बाद के तीन भगो मे सम्यग्ग्रहण अथवा सम्यक्पालन का अभाव है। इसीलिये आदि के सात भगो मे वर्तमान आत्मा अविरत कहलाती है। यदि और भी सूक्ष्मता से विचार किया जाये तो आदि के चार भगो मे वर्तमान आत्मा तो मिथ्यादृष्टि ही है। क्योकि उसे यथार्थ ज्ञान ही नही है और बाद के तीन भग अविरतसम्यग्दृष्टि के है। लेकिन अन्तिम भग मे वर्तमान आत्मा व्रतो के यथार्थज्ञानपूर्वक और विधिपूर्वक उनको ग्रहण करके अनुपालन करने वाली है, इसलिये उसे विरत कहते है। उसमे देश से पापव्यापार का त्याग करने वाली देशविरत और सर्वथा पाप-व्यापार से विरत सर्वविरत कहलाती है।

व्रतग्रहण के भेद मे देशविरत-श्रावक के अनेक प्रकार है। जैसे कोई एक अणुव्रती—अणुव्रत ग्रहण करने वाला, कोई दो अणुव्रती, कोई तीन अणुव्रती यावत् उत्कृष्ट से कोई पूर्ण बारह व्रतधारी और केवल अनुमति सिवाय समस्त पापव्यापार का त्याग करने वाला भी होता है।

अनुमति तीन प्रकार की है—१ प्रतिसेवनानुमति, २ प्रतिश्रवणानु-मति और ३ सवासानुमति। इनमे जो स्वय कृत और अन्य स्वजनादि द्वारा किये गये पाप का अनुमोदन करता है और सावद्य आरम्भ से बने अशनादि का उपभोग करता है, उसे प्रतिसेवनानुमति दोष लगता है। जब पुत्रादि द्वारा किये हुए पाप कार्यो को सुनता है, सुनकर अनु-मोदन करता है—ठीक मानता है और प्रतिषेध नही करता है तब प्रतिश्रवणानुमति और जब पापारम्भ मे प्रवृत्त पुत्रादि पर मात्र ममत्व

युक्त होता है, किन्तु उनके किसी पापकार्य को सुनता नही या अच्छा नही मानता है, तब सवासानुमति दोष लगता है।[1] इनमे अन्तिम दोष का जो सेवन करता है वह उत्कृष्ट देशविरत है और अन्य श्रावको से गुणो मे श्रेष्ठ है। जो सवासानुमति से—पुत्रादि के ममत्व भाव से भी विरत है—वह सर्वविरत कहलाता है।

इन दो—देशविरति और सर्वविरति मे से किसी भी विरति को आदि के दो करण—यथाप्रवृत्तकरण और अपूर्वकरण के द्वारा प्राप्त करता है। यदि अविरति होने पर उक्त दो करण करे तो देशविरति अथवा सर्वविरति इन दोनो मे से किसी एक को प्राप्त करता है और देशविरति होते उक्त दो करण करे तो सर्वविरति को ही अगीकार करता है।

देशविरति, सर्वविरति प्राप्त करते हुए तीसरा अनिवृत्तिकरण इसलिये नही होता है कि करणकाल से पहले भी अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त प्रति समय अनन्तगुण वढती विशुद्धि से वर्तमान अशुभकर्मो के रस को द्विस्थानक और शुभ प्रकृतियो के रस को चतुःस्थानक करता है इत्यादि जैसा पूर्व मे यथाप्रवृत्त और अपूर्वकरण के स्वरूप निर्देश के प्रसग मे कहा गया वैसा यहाँ भी सब होता है, मात्र देशविरति और सर्वविरति प्राप्त करते हुए अपूर्वकरण मे गुणश्रेणि नही होती है और अपूर्वकरण के पूर्ण होते ही अनन्तर समय मे अवश्य ही देश-विरति अथवा सर्वविरति प्राप्त करता है। इसलिये यहाँ तीसरा अनि-वृत्तिकरण नही होता है। इसका कारण यह है कि सर्वथा क्षय या उप-शम करना हो तो वहाँ ही अनिवृत्तिकरण होता है। देशविरति या सर्वविरति प्राप्त करते अनुक्रम से अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्या-

---

१ पहली अनुमति मे स्वय अथवा अन्य द्वारा कृत पाप आदि का अनुमोदन आदि है, दूसरी मे मात्र पुत्रादि कृत पाप का अनुमोदन आदि है, तीसरी मे तो वह भी नही है—गृहस्थ मे रहने से मात्र ममत्व ही है।

नावरण कषाय का सर्वथा क्षय या सर्वथा उपशम नही करना पडता है, परन्तु क्षयोपशम करना होता है और वह तो अपूर्वकरण मे ही होता है। जिससे यहाँ तीसरे करण की आवश्यकता नही रहती है। तथा—

उदयावलिए उप्पि गुणसेढि कुणइ चरित्तेण।
अन्तो असंखगुणणाइ तत्तिय वड्ढई काल ॥३१॥

शब्दार्थ—**उदयावलिए**—उदयावलिका से, **उप्पि**—ऊपर, **गुणसेढि**—गुणश्रेणि, **कुणइ**—करता है, **चरित्तेण**—चारित्र से, **अन्तो**—अन्तर्मुहूर्त, **असंखगुणणाइ**—असंख्यात गुणाकार रूप से, **तत्तिय**—उतने, **वड्ढई**—प्रवर्धमान, **काल**—काल।

गाथार्थ—उदयावलिका से ऊपर अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त असख्यात गुणाकार रूप से गुणश्रेणि करता है। उतने काल प्रवर्धमान परिणाम वाला होता है।

विशेषार्थ—देशविरति और सर्वविरति प्राप्त करने के लिये होने वाले अपूर्वकरण मे गुणश्रेणि नही होती, किन्तु करण पूर्ण होने के बाद देशविरति अथवा सर्वविरति चारित्र के साथ ही यानि कि जिस समय देशविरति और सर्वविरति चारित्र प्राप्त होता है, उसी समय से उदयावलिका से ऊपर के समय से लेकर पूर्व-पूर्व स्थान से उत्तरोत्तर अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थान मे असख्यात-असख्यात गुणाकार रूप से अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त गुणश्रेणि—दलरचना करता है।

यद्यपि देशविरत और सर्वविरत गुणस्थान मे वह गुणस्थान जब तक रहे तब तक गुणश्रेणि होती है, लेकिन यहाँ अन्तर्मुहूर्त कहने का कारण यह है कि देशविरति और सर्वविरति प्राप्त होने के बाद अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त आत्मा के अवश्य प्रवर्धमान परिणाम होते हैं, तत्पश्चात् नियम नही है। उसके बाद तो कोई प्रवर्धमान परिणाम वाले, कोई अवस्थित—स्थिर- पूर्व के समान परिणाम वाले और कोई

हीयमान परिणामी होती है। यदि प्रवर्धमान परिणामी हो तो गुणश्रेणि चढते क्रम से करता है और हीयमान परिणामी हो तो हीयमान क्रम से और अवस्थित परिणाम होने पर अवस्थित—स्थिर गुणश्रेणि करती है।

हीयमान परिणामी आत्मा ऊपर के स्थानो मे से दलिक अल्प उतारती है और अल्प स्थापित करती है। अवस्थित परिणामी पूर्व के समय मे जितने दलिक उतारे थे, उतने ही उतार कर स्थापित करती है। देशविरति या सर्वविरति जब स्वभावस्थ और हीनपरिणामी हो तब स्थितिघात और रसघात नही करता है। तथा—

परिणामपच्चएणं गमागम कुणइ करणरहिओवि।
आभोगणट्ठचरणो करणे काऊण पावेइ ॥३२॥

शब्दार्थ—**परिणामपच्चएण**—(अनाभोग) परिणाम के निमित्त से, **गमागम**—गमनागमन, **कुणइ**—करती है, **करणरहिओवि**—करण किये बिना भी, **आभोगणट्ठचरणो**—आभोग (उपयोग) पूवक जिसका चारित्र नष्ट हुआ है, **करणे**—करण को, **काऊण**—करके, **पावेइ**—प्राप्त करता है—चढता है।

गाथार्थ—(अनाभोग) परिणाम के निमित्त से आत्मा करण किये बिना भी गमनागमन करती है। उपयोगपूर्वक जिसका चारित्र नष्ट हुआ है वह दो करण करके ही प्राप्त करती है—चढती है।

विशेषार्थ—अनाभोग (उपयोग सिवाय) परिणाम के ह्रास रूप निमित्त से गिरते परिणाम होने से देशविरति आत्मा अविरति को प्राप्त करती है अथवा सर्वविरति देशविरति या अविरति को प्राप्त करे तो वह फिर से भी पूर्व मे प्राप्त देशविरति और सर्वविरति को करण किये बिना ही प्राप्त करती है। इस प्रकार करण किये बिना भी अनेक बार गमनागमन करती है, परन्तु जिसने आभोग (उपयोग) पूर्वक अपने चारित्र को नष्ट किया है और वैसा करके देशविरति से अथवा सर्वविरति से गिरकर मिथ्यात्व पर्यन्त भी जो गई है, वह पुन

जघन्य से अन्तर्मुहूर्त काल और उत्कृष्ट से बहुत काल मे पूर्व प्रतिपन्न देशविरति अथवा सर्वविरति को उक्त प्रकार से—दो करण करके ही प्राप्त करती है। इसका कारण यह है कि आभोग (उपयोग) पूर्वक गिरा हुआ जीव क्लिष्ट परिणामी होता है, जिससे वह करण किये बिना चढ नही सकता है, किन्तु कोई इसी प्रकार के कर्म के उदय से अनाभोग के कारण गिरा हुआ हो तो वह तथाप्रकार के क्लिष्ट परिणाम नही होने से करण किये बिना ही चढ जाता है। तथा—

परिणामपच्चएणं चउव्विह हाइ वड्ढई वावि।
परिणामवड्ढयाए गुणसेढि तत्तियं रयइ ॥३३॥

शब्दार्थ—**परिणामपच्चएण**—परिणाम के निमित्त से, **चउव्विह**—चार प्रकार से, **हाइ**—घटती है, **वड्ढई**—बढती है, **वावि**—अथवा, **परिणामवड्ढयाए**—परिणाम के अवस्थित रहने पर, **गुणसेढि**—गुणश्रेणि, **तत्तिय** उतनी ही, **रयइ**—रचता है।

गाथार्थ—परिणाम के निमित्त से गुणश्रेणि चार प्रकार से घटती है अथवा बढती है, परिणाम के अवस्थित रहने पर उतनी ही रचता है।

विशेषार्थ—परिणाम रूप कारण द्वारा गुणश्रेणि बढती है और घटती है। यानि पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर समय मे यदि परिणाम प्रवर्धमान हो तो ऊपर के स्थानो मे से अनुक्रम से अधिक-अधिक दलिक लेकर अधिक अधिक स्थापित करता है। स्थिर परिणामी हो तो उतने लेकर उतने ही स्थापित करता है और हीयमान परिणामी हो तो ऊपर से अल्प दलिक लेता है और अल्प स्थापित करता है।

देशविरति और सर्वविरति प्राप्त होने के बाद अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त तो आत्मा अवश्य प्रवर्धमान परिणाम वाली ही होती है किन्तु उसके बाद का नियम नही है। कोई हीनपरिणामी होती है, कोई अवस्थितपरिणामी और प्रवर्धमानपरिणामी भी होती है। इसी कारण

श्रेणि मे—ऊपर से दलिको को उतार कर रचना मे भी फेरफार होता है। यदि हीनपरिणामी—पूर्व पूर्व समय से उत्तरोत्तर समय-समय मे मन्द परिणामी आत्मा होती जाये तो गुणश्रेणि भी असख्यातभाग-हीन, सख्यातभागहीन, सख्यातगुणहीन या असख्यातगुणहीन होती है। अर्थात् ऊपर से इतने-इतने कम उतार कर नीचे हीन-हीन स्थापित करती है।

यदि पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर समय मे परिणाम प्रवर्धमान होते जाये तो परिणामानुसार गुणश्रेणि भी पूर्वोक्त प्रकार से बढती है और पूर्व समय मे जैसे परिणाम थे, वैसे ही उत्तर समय मे भी परिणाम रहे तो गुणश्रेणि भी उतनी ही होती है। यानि पूर्वसमय मे जितने दलिक उतारे थे और जिस क्रम से स्थापित किये थे उतने ही उत्तर समय मे उतार कर स्थापित करती है।

गुणश्रेणि के क्रम से होने वाली दलरचना अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थानो मे होती है और देशविरति तथा सर्वविरति गुणस्थान जव तक रहे, तब तक वह भी समय-समय होती रहती है।

इस प्रकार से देशविरति और सर्वविरति की प्राप्ति का क्रम जानना चाहिये। अब अनन्तानुवधी की विसयोजना का स्वरूप-निर्देश करते हैं।

अनन्तानुवधि-विसयोजना

सम्मुप्पायणविहिणा चउगइया सम्मदिट्ठिपज्जत्ता।
सजोयणा विजोयन्ति न उण पढमट्ठिति करेंति ॥३४॥

शब्दार्थ—सम्मुप्पायणविहिणा—सम्यक्त्वोत्पाद की विधि से, **चउगइया**—चारो गति के जीव, **सम्मदिट्ठि**—सम्यग्दृष्टि, **पज्जत्ता**—पर्याप्त, **सजोयणा**—सयोजना-अनन्तानुवधी की, **विजोयन्ति**—विसयोजना करते है, **न**—नही, **उण**—किन्तु, **पढमट्ठिति**—प्रथम स्थिति, **करेंति**—करते है।

विशेषार्थ—ऊपर के दो करण—अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण—मे अनन्तानुवधि क्रोध, मान, माया और लोभ के दलिको का उद्वलनासक्रमानुविद्ध गुणसक्रम द्वारा सर्वथा नाश करता है, यानि बधती हुई शेष कषाय रूप कर देता है। ऊपर के गुणस्थानो मे जिस कर्म का सर्वथा नाश करना हो, उनमे के बहुतसो मे उद्वलनासक्रम और गुणसक्रम दोनो होते है, जिससे अन्तर्मुहूर्त मात्र काल मे उनका सर्वथा नाश होता है और यहाँ अनन्तानुबधि का सर्वथा नाश करता है जिससे अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण मे उद्वलनायुक्त गुणसक्रम द्वारा मात्र अन्तर्मुहूर्त मे ही उसका सर्वथा नाश करता है और मात्र एक उदयावलिका अवशिष्ट रहती है। इसका कारण यह है कि उसमे कोई करण नही लगता है। शेप रही वह आवलिका स्तिवुकसक्रम द्वारा वेद्यमान स्वजातीय प्रकृति मे सक्रमित होकर दूर होती है। तत्पश्चात् अन्तर्मुहूर्त के बाद अनिवृत्तिकरण के अन्त मे शेष कर्मो का भी स्थितिघात और गुणश्रेणि नही होती है, परन्तु मोहनीय की चौबीस प्रकृतियो की सत्ता वाला होता हुआ स्वभावस्थ ही रहता है।

इस प्रकार से अनन्तानुबधि की विसयोजना का स्वरूप जानना चाहिये। किन्तु जो आचार्य उपशमश्रेणि करते हुए अनन्तानुबधि की उपशमना मानते हैं, उनके मतानुसार अनन्तानुबधि की उपशमना विधि इस प्रकार है—

अनन्तानुबधि उपशमना अन्य मतान्तर

अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्त और अप्रमत्त गुणस्थान मे से किसी भी एक गुणस्थान मे वर्तमान जीव अनन्तानुबधि की उपशमना का प्रयत्न करता है। वह मन, वचन और काय इन तीन योगो मे से किसी भी एक योगयुक्त होता है। तेजो, पद्म और शुक्ल लेश्या मे से कोई भी एक शुभ लेश्या वाला, साकारोपयोग मे उपयुक्त, अन्त कोडाकोडी सागरोपम स्थिति की सत्ता वाला भव्य जीव होता है तथा वह परावर्तमान पुण्यप्रकृतियो का वधक होता है एव प्रति समय अशुभ प्रकृतियो के रस को अनन्तगुण हीन करता है तथा शुभ प्रकृतियो के

रस को अनन्तगुण बढाता है। स्थितिबध भी पूर्ण हो तब जैसे-जैसे पूर्ण होता जाता है वैसे-वैसे अन्य स्थिति पल्योपम के असख्यातवे भाग[1] हीन-हीन करता है। इस प्रकार करण प्रारम्भ करने के पूर्व भी अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त निर्मल परिणाम वाला रहता है। तत्पश्चात् अन्तर्मुहूर्तकाल प्रमाण तीन करण करता है—१ यथाप्रवृत्तकरण, २ अपूर्वकरण, ३ अनिवृत्तिकरण तथा चौथा उपशान्ताद्धा।

उसमे यथाप्रवृत्तकरण मे प्रवेश करता जीव पूर्व पूर्व समय से अनन्तगुण प्रवर्धमान परिणामो से प्रवेश करता है, किन्तु तद्योग्य विशुद्धि के अभाव मे स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि या गुणसक्रम इनमे से एक को भी नही करता है। उस अन्तर्मुहूर्त प्रमाण यथाप्रवृत्तकरण के काल मे प्रत्येक समय मे त्रिकालवर्ती अनेक जीवो की अपेक्षा असख्य लोकाकाशप्रदेशप्रमाण विशुद्धि के स्थान होते है और प्रत्येक समय के वे विशुद्धिस्थान षट्स्थानपतित है तथा प्रथम समय मे जो विशुद्धिस्थान है, उनसे दूसरे समय मे अधिक होते है, तीसरे समय मे उनमे अधिक, इस तरह पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर समय मे यथाप्रवृत्ताकरण के चरम समय पर्यन्त अधिक-अधिक होते है। तथा—

यथाप्रवृत्तकरण के प्रथम समय मे जघन्यविशुद्धि अल्प, उससे द्वितीय समय मे जघन्यविशुद्धि अनन्तगुण, उससे तृतीय समय मे जघन्यविशुद्धि अनन्तगुण, इस तरह यथाप्रवृत्तकरण के सख्यातवे भाग पर्यन्त जानना चाहिये। उससे यथाप्रवृत्ताकरण के प्रथम समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुण, उससे सख्यातवे भाग के बाद के समय की जघन्य विशुद्धि अनन्तगुण, उससे द्वितीय समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुण, उससे सख्यातवे भाग के बाद के दूसरे समय की जघन्य विशुद्धि अनन्तगुण, उससे तीसरे समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुण,

---

१ कर्मप्रकृति और पचसग्रह के कर्ता पल्योपम के सख्यातवें भागहीन मानते है।

उससे सख्यातवे भाग के बाद के तीसरे समय की जघन्य विशुद्धि अनन्तगुण, इस तरह ऊपर के एक-एक समय की उत्कृष्ट और सख्यातवे भाग के बाद के एक-एक समय की जघन्य अनन्तगुण विशुद्धि यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय पर्यन्त जानना चाहिये। यथाप्रवृत्तकरण के अन्तिम सख्यातवे भाग मे जो उत्कृष्ट विशुद्धि अनुक्त है उमे भी उत्तरोत्तर अनन्तगुण समझना चाहिये। इस प्रकार यथाप्रवृत्तकरण मे विशुद्धि का तारतम्य होता है।

इस तरह से यथाप्रवृत्तकरण पूर्ण कर अपूर्वकरण मे प्रवेश करता है। अपूर्वकरण मे भी प्रति समय नाना जीवो की अपेक्षा असख्यातलोकाकाशप्रदेशप्रमाण विशुद्धि के स्थान होते है और पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर समय मे अधिक होते है तथा प्रत्येक समय के विशुद्धि स्थान षट्स्थानपतित है।

विशुद्धि का तारतम्य इस प्रकार है—यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय की उत्कृष्ट विशुद्धि से अपूर्वकरण के प्रथम समय की जघन्य-विशुद्धि अनन्तगुणी होती है, उससे उसी समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुण, उससे दूसरे समय की जघन्य विशुद्धि अनन्तगुण, उससे उसी समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुण है। इस प्रकार अपूवकरण के चरम समय पर्यन्त विशुद्धि का तारतम्य होता है तथा अपूर्वकरण के प्रथम समय से लेकर स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि, गुणसक्रम और अन्य स्थितिबध ये पाँच बाते एक साथ प्रारम्भ होती है। जिनका आशय इस प्रकार है—

स्थितिघात—अर्थात् जो सत्तागत स्थिति के ऊपर के भाग मे से अधिक-से-अधिक सैकडो सागरोपम प्रमाण और कम-से-कम पल्योपम के सख्यातवे भाग प्रमाण स्थिति के खण्ड है, उनका क्षय करने का प्रयत्न करता है—उतने स्थान मे के दलिको को हटाकर भूमि साफ करने का प्रयत्न करता है। उसके दलिको को नीचे जिस स्थिति का घात नही होना है, उसमे निक्षिप्त करता है। इस तरह पूर्व-पूर्व समय

से उत्तरोत्तर समय मे असख्यातगुण अधिक दलिकों को ग्रहण करता हुआ अन्तर्मुहूर्त काल मे उतनी स्थिति का नाश करता है। पुन उपर्युक्त क्रम से पल्योपम के सख्यातवे भाग प्रमाण दूसरा खण्ड लेता है और अन्तर्मुहूर्त मे उसका नाश करता है। इस रीति से अपूवकरण के काल मे हजारो स्थितिघात करता है। अपूर्वकरण मे प्रथम समय जो स्थितिसत्ता थी, उससे चरम समय मे सख्यातगुणहीन होती है, अर्थात् सख्यातवे भाग की शेष रहती है।

रसघात—अर्थात् अशुभ प्रकृतियो का सत्ता मे जो रस है, उसका अनन्तवाँ भाग रख शेष अनन्त भागो को समय-समय नाश करता अन्तर्मुहूर्त काल मे पूरी तरह से नाश करता है। तत्पश्चात् शेष रखे अनन्तवे भाग का अनन्तवाँ भाग रखकर शेप अनन्त भागो को समय-समय मे नाश करता हुआ अन्तर्मुहूर्त मे नाश करता है और शेष रखे अनन्तवे भाग का अनन्तवाँ भाग रखकर अनन्त भागो को समय-समय नाश करता हुआ अन्तर्मुहूर्त काल मे नाश करता है। इस प्रकार से एक स्थितिघात जितने काल मे हजारो रसघात करता है।

गुणश्रेणि—उदय समय से लेकर अन्तर्मुहूर्तप्रमाण स्थिति मे ऊपर के स्थानो मे से दलिक ग्रहण करके उनका उदयावलिका मे ऊपर के समय से प्रारम्भ कर अन्तर्मुहूर्त प्रमाण समयो मे पूर्व पूर्व से उत्तरोत्तर समय मे असख्यात-असख्यात गुणाकार रूप से स्थापित करता है। इस प्रकार प्रतिसमय अन्तर्मुहूर्त से ऊपर के स्थानो मे से असख्यात-असख्यात गुण अधिक दलिको को उतार कर उदयावलिका के ऊपर के समय से लेकर पूर्वोक्त क्रम से स्थापित करता है। इस गुणश्रेणि—दलरचना का अन्तर्मुहूर्त अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण से बडा है। यानि अपूर्वकरण के प्रथम समय मे जो दलिक उतारता है, उनको उदयावलिका छोड उसके ऊपर के समय से लेकर अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण से अधिक समयो मे स्थापित करता है। अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण के समयो को भोगकर जैसे-जैसे समाप्त करता जाता है, वैसे-वैसे दलरचना शेष-शेष समयो मे होती

है, परन्तु ऊपर नही वढाता है। यानि अपूर्वकरण के पहले समय मे गुणश्रेणि का जो अन्तिम समय था, वही चरम समय के रूप मे बना रहता है।

यहाँ यह विशेष जानना चाहिये कि जिसका उदय होता है, उसकी गुणश्रेणि उदय समय से प्रारम्भ होती है और जिसका उदय नही होता है, उसकी गुणश्रेणि प्रदेशोदयावलिका छोडकर ऊपर के समय मे होती है।

गुणसक्रम—अपूर्वकरण के प्रथम समय मे अनन्तानुवधि के दलिक स्वजातीय वधती परप्रकृति मे अल्प सक्रमित करता है, दूसरे समय मे असख्यातगुण अधिक सक्रमित करता है, तीसरे समय मे उससे भी असख्यातगुण अधिक सक्रमित करता है। इस तरह पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर समय मे असख्यातगुण अधिक यावत् अपूर्वकरण के चरम समय पर्यन्त सक्रमित करता है। अनन्तानुबधि की उपशमना करते गुणसक्रमण मात्र अनन्तानुबधि का ही होता है। अवध्यमान प्रत्येक अशुभ प्रकृति का गुणसक्रमण तो आठवे गुणस्थान से प्रारम्भ होता है।

अन्यस्थितिबध— अपूर्वकरण के प्रथम समय मे अपूर्व – अल्प स्थिति-बध करता है। तत्पश्चात् होने वाला दूसरा स्थितिबध पल्योपम के सख्यातवे भाग हीन करता है। इस तरह आगे-आगे के स्थितिबध पल्योपम के सख्यातवे भाग न्यून-न्यून होते जाते है। स्थितिघात और स्थितिवध का काल तुल्य है। अर्थात् स्थितिघात और स्थितिबध साथ ही प्रारम्भ होते है और साथ ही पूर्ण होते हैं।

इस प्रकार से इन पॉच पदार्थो को अपूर्वकरण मे युगपद् आरम्भ करता है। एक साथ चढे हुए जीवो मे भी अध्यवसाय का तारतम्य होता हैं, जिससे उसका निवृत्ति ये दूसरा नाम भी है।

अपूर्वकरण पूर्ण करके अनिवृत्तिकरण मे प्रवेश करता है। अपूर्व-करण वहाँ तक कहलाता है कि जहाँ तक चढे हुए जीवो मे अध्य-वसाय का तारतम्य होता है। इसके वाद जिस समय से साथ च हुए

जीव समान परिणाम वाले होते है, उस समय से अनिवृत्तिकरण की शुरुआत होती है। इस करण मे प्रत्येक समय एक साथ चढे हुए प्रत्येक जीव के अध्यवसाय समान होते है, मात्र पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर अनन्तगुण विशुद्ध होते है। जिससे इस करण के जितने समय, उतने ही विशुद्धि के स्थान है। अपूर्वकरण की तरह यहाँ भी पूर्वोक्त स्थिति-घात आदि पाचो पदो को एक ही साथ प्रारम्भ करता है और अनि-वृत्तिकरण के सख्यातभाग जाये और एक सख्यातवा भाग शेप रहे तब अनन्तानुबधि का अन्तरकरण करता है। यहाँ अनन्तानुबधि का उदय नही होने से नीचे एक आवलिका को छोडकर ऊपर के अन्तर्मुहूर्त प्रमाण अन्तरकरण के दलिको को बध्यमान पर-प्रकृति मे सक्रमित करता है और अभिनव स्थितिबध या स्थितिघात करते जितना समय जाता है उतने समय मे खाली करता है। प्रथमस्थिति के आवलिका-गत दलिको को स्तिबुकसक्रम द्वारा वेद्यमान परप्रकृति मे सक्रमित कर समाप्त—नि शेष करता है।

जिस समय अन्तरकरणक्रिया प्रारम्भ होती है, उसके दूसरे समय से द्वितीय स्थितिगत अनन्तानुबधि के दलिक को उपशमित करना प्रारम्भ करता है। प्रथम समय मे स्तोक, दूसरे समय मे असख्यातगुण, उससे तीसरे समय मे असख्यातगुण उपशमित करता है। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त काल मे सम्पूर्णतया उपशमित करता है। उपशमित करता है यानि अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त उदय, सक्रमण, उद्वर्तना, अपवर्तना, निद्धत्ति, निकाचना और उदीरणा के अयोग्य करता है। उपशात हुए दलिको मे अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त उक्त कोई करण नही लगता है, उसी प्रकार प्रदेश या रस से उदय भी नही होता है।

इस प्रकार जो आचार्य अनन्तानुबधि की उपशमना मानते है उनके मतानुसार उसकी उपशमना की यह विधि है।[1]

---

१ अनन्तानुबधिनी की यह विधि षडशीति वृत्ति से यहाँ उद्धृत की है।
—सम्पादक

अब दर्शनमोहनीय की क्षपणा की विधि का निरूपण करते है।

दर्शनमोहक्षपणानिरूपण

दंसणखवणस्सरिहो जिणकालीओ पुमट्ठवासुवरि ।
अणणासकमा करणाइ करिय गुणसंकम तहय ॥३६॥

अप्पुव्वकरणसमग गुणउव्वलण करेइ दोण्हंपि ।
तक्करणाइ ज त ठिइसत सखभागन्ते ॥३७॥

शब्दार्थ—**दसणखवणस्सरिहो**—दर्शनमोहनीय की क्षपणा के योग्य, **जिणकालीओ**—जिनकालिक, **पुमट्ठवासुवरि**—आठ वप से अधिक की आयु वाला पुरुष, **अणणासकमा**—अनन्तानुवधि के नाश (विसयोजना) मे कहे गये क्रम से, **करणाइ**—करणो को, **करिय**—करके, **गुणसंकम**—गुणसक्रम, **तहय**—उसी प्रकार।

अप्पुव्वकरणसमग—अपूर्वकरण के साथ, **गुणउव्वलण**—गुण और उद्वलना सक्रम, **करेइ**—करता है, **दोण्हपि**—दोनो का भी, **तक्करणाइ**—उस अपूर्वकरण के आदि मे, **ज**—जो, **त**—उस, **ठिइसत**—स्थितिसत्ता को, **सखभागन्ते**—अत मे सख्यातवें भाग।

गाथार्थ—आठ वर्ष से अधिक की आयु वाला जिनकालिक पुरुष दर्शनमोहनीय की क्षपणा के योग्य है। वह अनन्तानुबधि की विसयोजना मे कहे गये तीन करण के क्रम से करणो को करके तथा उसी प्रकार गुणसक्रम करके—

अपूर्वकरण के साथ ही दोनो (मिश्र और मिथ्यात्व मोहनीय) का गुणसक्रम और उद्वलनासक्रम करता है, जिससे अपूर्वकरण की आदि मे वर्तमान स्थितिसत्ता को अत मे सख्यातवे भाग करता है।

विशेषार्थ—जिस काल मे तीर्थंकर विराजमान है, उस काल मे उत्पन्न ऐसा जिनकालिक आठ वर्ष से अधिक की आयु वाला प्रथम सहननी मनुष्य (पुरुष) दर्शनमोहनीय—मिथ्यात्व, मिश्र और सम्यक्त्व

मोहनीय—की क्षपणा करने के लिये अधिकारी है—योग्य है और वह अनन्तानुबधि की विसयोजना मे बताये गये अनुसार तीन करण तथा गुणसक्रम करके दर्शनमोहनीयत्रिक का सर्वथा नाश करता है।

जिसका विस्तार से स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

दर्शनमोहनीय का क्षय करने के लिये प्रयत्न करता जीव यथाप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीन करणो को करता है। अर्थात् इन करणो मे जैसे पूर्व मे स्थितिघात आदि जो कुछ भी करना कहा गया है, उसी तरह यहाँ भी यथायोग्य रीति से करता है। प्रथम गुणस्थान मे अल्प विशुद्धि थी जिससे अधिक काल मे थोडा कार्य होता था। दर्शनमोहनीय की क्षपणा चौथे से सातवे गुणस्थान तक होती है। उनकी विशुद्धि अनन्तगुण अधिक होने से अल्प काल मे स्थितिघातादि अधिक प्रमाण होते है। विशेष यह है कि अपूर्वकरण के प्रथम समय से लेकर उद्वलनासक्रम युक्त गुणसक्रम प्रवर्तित होता है। गुणसक्रम द्वारा मिथ्यात्व तथा मिश्र मोहनीय के दलिको को सम्यक्त्वमोहनीय मे डालता है। जिसमे उन दोनो के दलिको को सम्यक्त्वमोहनीय रूप करता है और उद्वलनासक्रम द्वारा स्थिति के खड करके स्व और पर मे प्रक्षिप्त कर नाश करता है। उनमे प्रथमस्थिति खड वृहद् उसके बाद उत्तरोत्तर छोटे-छोटे स्थितिखड करता है। इस तरह अपूर्वकरण के चरम समय पर्यन्त होता है।

यहाँ इतना विशेष है कि अपूर्वकरण के प्रथम समय से लेकर अनुदित मिश्र और मिथ्यात्वमोहनीय मे उद्वलना और गुण ये दोनो सक्रम होते है, किन्तु सम्यक्त्वमोहनीय मे तो मात्र उद्वलनासक्रम ही होता है। इसका कारण यह है कि दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय का परस्पर सक्रम नही होता है। उसके दलिको को तो नीचे उतार कर उदयसमय से लेकर गुणश्रेणि क्रम से स्थापित करता है।

इस प्रकार उद्वलनानुविद्ध गुणसक्रम द्वारा मिथ्यात्व और मिश्र की स्थिति कम होने से अपूर्वकरण के प्रथम समय मे उन दोनो की

जितनी स्थितिसत्ता थी, उसके सख्यातवे भाग जितनी ही चरम समय मे सत्ता रहती है। तथा—

एव ठिइबंधो वि हु पविसइ अणियट्टिकरणसमयंमि।
अप्पुव्व गुणसेढिं ठितिरसखडाणि बंध च ॥३८॥
देसुवसमणनिकायणनिहत्तिरहियं च होय दिट्ठितिग।
कमसो असण्णिचउरिंदियाइतुल्लं च ठितिसतं ॥३९॥
ठितिखंडसहस्साइ एक्केक्के अंतरमि गच्छंति।
पलिओवम सखंसे दसणसते तओ जाए ॥४०॥

शब्दार्थ—**एव**—इसी प्रकार, **ठिइबन्धो वि**—(अपूर्व) स्थितिबध भी, हु—निश्चयवाचक अव्यय, **पविसइ**—प्रवेश करता है, **अणियट्टिकरणसमयंमि**—अनिवृत्तिकरण काल में, **अप्पुव्व**—अपूर्व, **गुणसेढि**—गुणश्रेणि, **ठितिरस-खण्डाणि**—स्थिति और रसघात, **बध**—बध, **च**—और।

देसुवसमणनिकायणनिहत्तिरहिय—देशोपशमना, निकाचना, निधत्तिरहित, **च**—और, **होइ**—होती है, **दिट्ठितिग**—दृष्टित्रिक, **कमसो**—क्रमश, **असण्णि-चउरिंदियाइतुल्लं**—असज्ञी पचेन्द्रिय और चतुरिन्द्रियादि के तुल्य, **च**—और, **ठितिसत**—स्थितिसत्ता।

ठितिखण्डसहस्साइ—हजारो स्थितिखण्ड, **एक्केक्के**—एक-एक, **अन्तरंमि**—अन्तर में, **गच्छन्ति**—होते हैं, **पलिओवमसखसे**—पल्योपम के सख्यातवें भाग, **दसणसत**—दर्शनमोहनीय की सत्ता, **तओ**—तब, **जाए**—होने पर।

गाथार्थ—इसी प्रकार अपूर्व स्थितिबन्ध भी होता है, तत्पश्चात् अनिवृत्तिकरण मे प्रवेश करता है, उस समय अपूर्व श्रेणि, स्थिति और रसघात और बन्ध करता है।

अनिवृत्तिकरण मे दृष्टित्रिक देशोपशमना, निकाचना, निधत्ति

रहित होती है और हजारो स्थितिघात होने के वाद असज्ञी पचेन्द्रिय और चतुरिन्द्रियादि के तुल्य स्थितिसत्ता होती है।

एक-एक अन्तर मे हजारो स्थितिखण्ड (घात) होते हे। जिसमे दर्शनमोहनीय की पल्योपम के सख्यातवे भाग प्रमाण स्थितिसत्ता रहती है। तव ऐसा होने पर (जो होता है उसको आगे कहते है)।

विशेषार्थ—इसी प्रकार स्थितिवन्ध के लिये भी समझना चाहिए। यानि अपूर्वकरण के प्रथम समय से चरम समय मे जैसे सख्यात गुणहीन-स्थिति की सत्ता रहती है, उसी प्रकार स्थितिबध भी अपूर्वकरण के प्रथम समय मे चरम समय मे सख्यातगुणहीन—सख्यातवे भाग प्रमाण रहती है।[1]

अपूर्वकरण पूर्ण होने के वाद अनिवृत्तिकरण मे प्रवेश करता है। प्रवेश के प्रथम समय से ही लेकर अपूर्व गुणश्रेणि, अपूर्व स्थिति और रस का घात तथा अपूर्व स्थितिवन्ध होता है। अपूर्व-करण से इस करण मे अनन्तगुण विशुद्ध परिणाम होने से और इस करण मे दर्शनमोहनीयत्रिक का सर्वथा नाश होता है, इसलिये अपूर्व स्थितिघात आदि होते हे।

अनिवृत्तिकरण के प्रथम समय से लेकर दर्शनमोहनीय की तीनो प्रकृतियो मे देशोपशमना, निकाचना और निधत्ति इन तीन करणो मे मे एक भी करण प्रवर्तित नही होता है तथा दर्शनमोहनीय की स्थिति-सत्ता स्थितिघातादि मे कम होते-होते हजारो स्थितिघात होने के वाद असज्ञी पचेन्द्रिय की स्थिति सत्ता के तुल्य होती है। उसके वाद पुन हजारा स्थितिघात होने के वाद चतुरिन्द्रिय की स्थितिसत्ता के वरावर सत्ता होती है, उसके वाद भी उतने ही स्थितिघात होने के वाद त्रीन्द्रिय की स्थितिसत्ता के समान सत्ता होती है। तत्पश्चात् भी

---

१ यद्यपि दर्शनमोहनीयत्रिक में से एक का भी वन्ध नही होता हे, परन्तु जिन कर्मों का वध होता है, उनका स्थितिवध उक्त प्रमाण है।

हजारो स्थितिघात होने के वाद द्वीन्द्रिय की स्थितिसत्ता के तुल्य स्थिति होती है और उसके वाद उतने ही हजारो स्थितिघात होते हैं तव एकेन्द्रिय की स्थितिसत्ता के वरावर सत्ता होती है। उसके वाद पुन हजारो स्थितिघात होने के वाद पल्योपम के सख्यातवे भाग प्रमाण स्थिति की सत्ता वाकी रहती है। यथा—

अनिवृत्तिकरण के प्रथम समय से लेकर अन्तर-अन्तर मे हजारो स्थितिघात होने के वाद अनुक्रम से जो असज्ञिपचेन्द्रिय आदि के तुल्य स्थिति की सत्ता होती है और इस प्रकार मे स्थिति घटते-घटते जव तीनो दर्शनमोहनीय की पल्योपम के सख्यातवे भाग प्रमाण स्थितिसत्ता रहती है, तव जो होता है, वह इस प्रकार है—

सखेज्जा सखिज्जा भागा खण्डइ सहससो तेवि ।
तो मिच्छस्स असखा सखेज्जा सम्ममीसाण ॥४१॥

शब्दार्थ—**सखेज्जा सखिज्जा**—सख्याता-सख्याता, **भागा**—भाग, **खण्डइ**—खण्ड करता है, **सहससो**—हजारो, **तेवि**—उनके भी, **तो**—उसके बाद, **मिच्छस्स**—मिथ्यात्व के, **असखा**—असख्यात, **सखेज्जा**—सख्यात, **सम्ममीसाण**—सम्यक्त्व और मिश्र के।

गाथार्थ—(दर्शनमोहनीयत्रिक की पल्योपम के सख्यातवे भागप्रमाण स्थितिसत्ता होने के बाद) सख्याता-सख्याता भाग खण्ड करता है—उनके भी वैसे हजारो खण्ड करता है। उसके वाद मिथ्यात्व के असख्यात और सम्यक्त्व तथा मिश्र मोहनीय के सख्याता-सख्याता भाग प्रमाण स्थितिघात करता है।

विशेषार्थ—दर्शनमोहनीयत्रिक की पल्योपम के सख्यातवे भागप्रमाण स्थिति की सत्ता जव होती है तव उस सत्तागत पल्योपम के सख्यातवे भागप्रमाण स्थिति के सख्याता भाग करके एक भाग रख शेप समस्त भागो का नाश करता है। इसी प्रकार जितनी स्थिति सत्ता मे है, उसके सख्याता भाग करके एक भाग रख सबका नाश करता है।

फिर जितनी स्थिति अवशिष्ट है उसके सख्याता भाग कर एक भाग रख शेष सभी भागो का नाश करता है। इस प्रकार हजारो स्थितिघात हो जाते है।

जब से पल्योपम के सख्यातवे भाग जितनी सत्ता हुई तब से अभी तक तीना दर्शनमोहनीय की सत्तागत स्थिति के सख्याता-सख्याता भाग कर एक-एक भाग रख अवशिष्ट स्थिति का नाश करता था और अब इसके बाद मिथ्यात्वमोहनीय की सत्ता मे जो स्थिति है, उसके असख्याता भाग कर एक रख शेप समस्त स्थिति का नाश करता है और मिश्र तथा सम्यक्त्वमोहनीय के तो सख्याता-सख्याता भाग कर एक भाग रख शेप सभी भागो का नाश करता है। तथा—

तत्तो बहुखंडते खंडइ उदयावलीरहियमिच्छं।
तत्तो असखभागा सम्मामीसाण खडेइ॥८२॥
बहुखडंते मीसं उदयावलिबाहिरं खिवइ सम्मे।
अडवाससतकम्मो दंसणमोहस्स सो खवगो॥८३॥

शब्दार्थ—**तत्तो**—उसके बाद, **बहुखडते**—बहुत से खडो के अन्त मे, **खडइ**—नाश करता है, **उदयावलीरहियमिच्छं**—उदयावलिका से रहित मिथ्यात्व को, **तत्तो**—तत्पश्चात्, **असखभागा**—असख्याता भाग, **सम्मामीसाण**—सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय के, **खडेइ**—नाश करता है।

बहुखडते—बहुत से खडो के अत मे, **मीस**—मिश्रमोहनीय को, **उदयावलिबाहिर**—उदयावलिका से ऊपर के, **खिवइ**—निक्षिप्त करता है, **सम्मे**—सम्यक्त्व मे, **अडवाससतकम्मो**—मोहनीय कर्म की आठ वर्ष की सत्ता वाला, **दसणमोहस्स**—दर्शनमोहनीय का, **सो**—वह, **खवगो**—क्षपक।

गाथार्थ—उसके बाद बहुत से खडो के अन्त मे उदयावलिका से रहित मिथ्यात्वमोहनीय का नाश करता है, उसके बाद मिश्र और सम्यक्त्वमोहनीय के असख्याता भागो को खडित करता है।

तत्पश्चात् बहुत से खडो के अन्त मे उदयावलिका से ऊपर के मिश्रमोहनीय के दलिको को सम्यक्त्वमोहनीय मे निक्षेप करता

है, उस समय सम्यक्त्वमोहनीय की आठ वर्प की सत्ता वाला वह दर्शनमोहनीय का क्षपक कहलाता है।

विशेषार्थ—इस रीति से मिथ्यात्वमोहनीय की सत्तागत स्थिति के असख्याता भाग करके एक भाग रख शेष सवका नाश करता है। इसी प्रकार जो स्थिति सत्ता मे है, उसके असख्याता भाग करके, एक भाग रख शेष सबका नाश करता है। इस क्रम से मिथ्यात्वमोहनीय का स्थितिघात करता हुआ बहुत से स्थितिघात होने के वाद उदयावलिका को छोडकर शेप समस्त मिथ्यात्व की स्थिति का नाश करता है। उस समय मिश्र और सम्यक्त्वमोहनीय की पल्योपम के असख्यातवे भाग जितनी स्थितिसत्ता रहती है।

जिस-जिस स्थिति का घात होता है, उसके दलिको की प्रक्षेप विधि इस प्रकार है—

जिन-जिन स्थितियो का घात होता है, उनमे के मिथ्यात्व के दलिको को मिश्र तथा सम्यक्त्वमोहनीय इन दोनो मे निक्षिप्त करता है। मिश्रमोहनीय के सम्यक्त्वमोहनीय मे निक्षिप्त करता है और सम्यक्त्वमोहनीय के नीचे उदयसमय से लेकर गुणश्रेणि के क्रम से स्थापित करता है। मिथ्यात्वमोहनीय की जो उदयावलिका शेष रही है, उसको स्तिबुकसक्रम द्वारा सम्यक्त्वमोहनीय मे निक्षिप्त करता है।

मिथ्यात्वमोहनीय की जब से उदयावलिका शेष रही तब मे मिश्र तथा सम्यक्त्वमोहनीय की सत्तागत स्थिति के असख्याता भाग करता है और एक भाग बाकी रख शेष समस्त भागो का नाश करता है तथा जो सत्ता मे है उसके असख्याता भाग करके एक भाग रख शेष सवका नाश करता है। इस प्रकार से कितने ही स्थितिघात जाने के वाद मिश्रमोहनीय की एक उदयावलिका प्रमाण स्थितिसत्ता रहती है। उस समय सम्यक्त्वमोहनीय की आठ वर्प प्रमाण स्थितिसत्ता रहती है। इस तरह उदयावलिका से ऊपर का मिश्रमोहनीय का

समस्त दल नाश हो जाता है और उदयावलिका सम्यक्त्व मे स्तिवुक-संक्रम द्वारा संक्रमित हो जाती है।

सम्यक्त्वमोहनीय की आठ वर्ष प्रमाण स्थितिसत्ता वाला जीव उस समय उसके समस्त विघ्न नष्ट होने से निश्चयनय के मतानुसार दर्शनमोहनीय का क्षपक कहलाता है। विघ्नरूप सर्वघाति मिथ्यात्व और मिश्रमोहनीय का तो सर्वघात किया और सम्यक्त्वमोहनीय का अन्तर्मुहूर्त मे घात करेगा। इसलिए वह निश्चयनय के मत से दर्शन-मोहक्षपक कहलाता है तथा—

अंतमुहुत्तियखंडं तत्तो उक्किरइ उदयसमयाओ।

निक्खिवइ असंखगुणं जा गुणसेढी परिहीणं ॥४४॥

शब्दार्थ—**अंतमुहुत्तियखंड**—अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थितिखंड, **तत्तो**—उसके बाद, **उक्किरइ**—उत्कीर्ण करता है, **उदयसमयाओ**—उदयसमय से, **निक्खिवइ**—स्थापित करता है, **असंखगुण**—असंख्यात गुणाकार, **जा**—पर्यन्त, **गुणसेढी**—गुणश्रेणि, **परिहीण**—हीन-हीन।

गाथार्थ—(सम्यक्त्वमोहनीय की सत्ता आठ वर्ष रहने के बाद) उसके अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थितिखंड करता है और उसके दलिकों का उत्कीर्ण करके उदयसमय से लेकर असंख्यात गुणाकार रूप से गुणश्रेणि शीर्ष पर्यन्त स्थापित करता है और उसके बाद हीन-हीन स्थापित करता है।

विशेषार्थ—जब से सम्यक्त्वमोहनीय की आठ वर्ष प्रमाण स्थिति सत्ता हुई, तब से उसके अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थितिखंड करके उसका घात करता है और उसके दलिकों का उदयसमय से लेकर इस प्रकार स्थापित करता है कि उदयसमय मे अल्प, द्वितीय समय मे असंख्यात-गुण उसके बाद के समय मे असंख्यातगुण। इस प्रकार पूर्व-पूर्व स्थान से उत्तर-उत्तर स्थान असंख्यात-असंख्यात गुण गुणश्रेणि शीर्ष पर्यन्त—गुणश्रेणि जितने स्थितिस्थानों मे होती है उसके अन्तिम समय पर्यन्त—

स्थापित करता है। उसके बाद के समयो मे—स्थितिस्थानो मे हीन-हीन यावत् चरम स्थिति पर्यन्त स्थापित करता है मात्र जिसका स्थितिघात होता है, वहा स्थापित नही करता है।

इसका आशय यह है कि दर्शनमोहनीय के क्षय के अधिकार मे अकेली गुणश्रेणि जब होती है, तब दलिको की रचना गुणश्रेणि शीर्ष तक ही होती है तथा उद्वलना और गुणश्रेणि दोनो जहा जुडी हुई होती है वहा गुणश्रेणि के शीर्ष तक पूर्व-पूर्व स्थान से उत्तर-उत्तर स्थान मे असख्यात-असख्यात गुण दलिक स्थापित करता है और उसके बाद के स्थानो मे जिनका स्थितिघात होता है, उनको छोडकर शेष मे हीन-हीन स्थापित करता है और जिनका स्थितिघात होता है, वहा बिल्कुल स्थापित नही करता है। तथा—

उक्किरइ असखगुण जाव दुचरिमति अन्तिमे खंडे।
सखेज्जसो खडइ गुणसेढीए तहा देइ ॥४५॥

शब्दार्थ—**उक्किरइ**—उत्कीर्ण करता है, **असखगुण**—असख्यात गुण, **जाव**—यावत्, **दुचरिमति**—द्विचरम खड पर्यत, **अन्तिमे खडे**—अन्तिम खड मे, **सखेज्जसो**—सख्यातवे भाग, **खडइ**—खड करता है, **गुणसेढीए**—गुणश्रेणि से, **तहा**—उसी प्रकार, **देइ**—देता है।

गाथार्थ—प्रथम स्थितिखड से उत्तरोत्तर स्थितिखड असख्यात-असख्यात गुण बडे-बडे लेता हुआ यावत् द्विचरम स्थिति खडपर्यन्त उत्कीर्ण करता है। चरम खड सख्यात गुण बडा है, अतिम स्थितिखड खडित करते गुणश्रेणि के सख्यातवे भाग को खडित करता है और गुणश्रेणि मे देता है।

विशेषार्थ—सम्यक्त्वमोहनीय की आठ वर्ष की सत्ता जब से रहती है, तब से स्थितिघात अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होता है। मात्र उत्तरोत्तर अन्तर्मुहूर्त असख्यात गुण-असख्यात गुण होते है। उनके दलिको को पूर्वोक्त क्रम से उदयसमय से लेकर स्थापित करता है इस प्रकार पूर्व-पूर्व खड की अपेक्षा उत्तरोत्तर असख्यात गुण बडे-बडे स्थिति खड पर्यन्त उत्कीर्ण करता है।

द्विचरम स्थितिखड से अन्तिम स्थितिखड—स्थितिघात सख्यात गुण वडा है। अन्तिम स्थितिखड को खडित करते हुए उसके साथ गुणश्रेणि के सख्यातवे भाग को भी खडित करता है और खडित होते हुए उस गुणश्रेणि के सख्यातवे भाग के ऊपर की स्थिति उसकी अपेक्षा सख्यात गुणी वडी है। उसी चरमस्थितिखण्ड की स्थिति को उत्कीर्ण करता है। यानि अन्तर्मुहूर्त प्रमाण चरम खण्ड के साथ गुणश्रेणि का जितना भाग उत्कीर्ण किया जाता है, उस भाग से उसके वाद उत्कीर्ण किया जाता चरमस्थितिखण्ड सख्यात गुण वडा है। तात्पर्य यह कि गुणश्रेणि के सख्यातवे भाग के साथ सम्पूर्ण चरम खण्ड को उत्कीर्ण करता है और वह चरम खण्ड गुणश्रेणि के सख्यातवे भाग से सख्यात गुण वडा है।

उसके दलिको को उदयसमय से लेकर स्थापित करता है। उदय-समय मे स्तोक, उसके वाद के उत्तरोत्तर स्थान मे गुणश्रेणि शीर्ष पर्यन्त असख्यात-असख्यातगुण स्थापित करता है। चरमखण्ड को उद्वलित करते गुणश्रेणिशीर्ष से ऊपर स्थानो मे दलिक विल्कुल स्थापित नही करता है। क्योकि वही दलिक उत्कीर्यमाण है। इस प्रकार अन्तिम खण्ड का दलिक समाप्त हो तब वह क्षपक कृतकरण कहलाता है। कृतकरण अर्थात् जिसने करण पूर्ण किये है। क्योकि यहाँ तीसरा अनिवृत्तिकरण पूर्ण होता है। तथा—

कयकरणो तक्काले कालपि करेइ चउसु वि गइसु।
वेइयसेसो सेढी अण्णयर वा समारुहइ ॥४६॥

शब्दार्थ—कयकरणो—कृतकरण, तक्काले—उसी समय, कालपि—काल-मरण भी, करेइ—करता है, चउसु—चारो, वि—ही, गइसु—गतियो मे, वेइयसेसो—शेष भाग का अनुभव करने वाला, सेढी—श्रेणी, अण्णयर—अन्यतर किसी एक, वा—अथवा, समारुहइ—प्राप्त करता है, आरोहण करता है।

गाथार्थ—कृतकरण—अनिवृत्तिकरण को पूर्ण कर लिया है, ऐसा कोई जीव काल भी करता है तो काल करके चारो गति मे जाता है और यदि काल न करे तो सम्यक्त्वमोहनीय के शेष भाग को अनुभव करने वाला अन्यतर किसी एक श्रेणि पर आरोहण करता है।

विशेषार्थ—कृतकरण होता हुआ यानि कि अनिवृत्तिकरण पूर्ण करके कोई जीव काल भी करता है और यदि वह काल करे तो चारो मे से किसी भी गति उत्पन्न हो सकता है[1] और सम्यक्त्वमोहनीय के शेप भाग को भोग कर क्षायिक सम्यक्त्व उपार्जित करता है। इसीलिये कहा है कि क्षायिक सम्यक्त्व का प्रस्थापक—आरम्भक—उत्पन्न करने की शुरुआत करने वाला मनुष्य ही है और निष्ठापक—पूर्ण करने वाले चारो गति के जीव है।[2] क्योकि सम्यक्त्वमोहनीय का अन्तिम खण्ड नाश हुआ कि करण पूर्ण हुआ, परन्तु अन्तिम खण्ड का जो दलिक उदयसमय से लेकर गुणश्रेणिशीर्ष तक यथाक्रम से स्थापित किया गया है, वह अभी भोगना शेष रहता है। यहाँ आयु पूर्ण हुई हो तो मरकर परिणामानुसार जिस किसी गति मे उत्पन्न होता है और सम्यक्त्वमोहनीय का शेप भाग भोगकर क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न करता है। इसी कारण कहा है कि निष्ठापक चारो गति के जीव हो सकते है।

यदि उस समय काल न करे तो मनुष्य गति मे ही सम्यक्त्व-

---

१ क्षायिक सम्यक्त्वी तीन नरक, वैमानिकदेव, असख्यात वर्प के आयु वाले तिर्यंच या मनुष्य इस तरह चार मे से किसी भी गति में परिणामानुसार उत्पन्न हो सकते है और जिसने सख्यात वर्प की आयु वाले मनुष्य तिर्यंच का, भवनपति व्यतर ज्योतिप देव का या आदि के तीन नरक के सिवाय शेप नरको की आयु बाँधी हो तो वे क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न नही कर सकते हैं।

२ पट्ठगो उ मणुस्सो निट्ठवगो होइ चउसु वि गईसु।

मोहनीय का शेष भाग अनुभव कर क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न करके क्षपक या उपशम श्रेणि मे से किसी एक श्रेणि पर आरोहण करता है। यदि परभव की वैमानिक देव की ही आयु बाँधी हो और बाद मे क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न किया हो तो ही उपशम श्रेणि पर चढ सकता है।

चार गति मे से किसी भी गति का आयु नही बाँधने वाला अबद्धायुष्क क्षायिकसम्यग्दृष्टि अन्तर्मुहूर्त मे ही क्षपक श्रेणि पर आरोहण करता है— क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त कर अन्तर्मुहूर्त काल मे ही चारित्रमोहनीय की क्षपणा प्रारम्भ करता है और वैमानिक के सिवाय अन्य कोई आयु बाधी हो तो एक भी श्रेणि पर नही चढ सकता है।

क्षायिक सम्यक्त्वी कितनेवे भव मे मोक्ष जाता है ? अब इस प्रश्न का उत्तर देते है।

क्षायिक सम्यक्त्वी का मुक्तिगमन

तइय चउत्थे तम्मि व भवंमि सिज्झति दसणे खीणे।
जं देवनरयऽसखाउ चरमदेहेसु ते होंति ॥४७॥

शब्दार्थ—तइय चउत्थे—तीसरे, चौथे, **तम्मि वा**—अथवा उसी, **भवे**—भव मे, **सिज्झति**—सिद्ध होते हैं, **दसण खीणे**—दर्शनसप्तक का क्षय करने के बाद, **ज**—क्योकि, **देवनरयऽसखाउचरमदेहेसु**—देव, नारक, असख्यात वर्ष की आयु वालो या चरम देह मे, **ते**—वे, **होति**—होते है।

गाथार्थ—दर्शनसप्तक का क्षय करने के बाद तीसरे, चौथे या उसी भव मे मोक्ष मे जाते है। क्योकि देव, नारक, असख्यात वर्ष की आयु वालो या चरम देह मे वे होते हैं।

विशेषार्थ—दर्शनसप्तक का क्षय करने के बाद तीसरे, चौथे या उसी भव मे जीव मोक्ष जाते है। क्योकि क्षायिक सम्यग्दृष्टि देव, नारक या असख्यात वर्ष की आयु वाले तिर्यच—मनुष्यो मे उत्पन्न होते हैं अथवा चरम शरीरी होते है। इसी कारण तीसरे, चौथे या उसी

भव मे मोक्ष जाने का सकेत किया है। जिसका विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

देव या नारक की आयु बाँधने के बाद क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न करे तो देव या नारको मे जाकर मनुष्य हो मोक्ष मे जाता है। उसने जिस भव मे क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न किया वह मनुष्य का भव, वाद मे देव या नारक का भव और उसके वाद का मनुष्य भव इस तरह तीन भव होते है।

असख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्य तिर्यच की आयु बाधने के वाद क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न किया हो तो युगलिक मे जाकर और वहाँ से देव मे और फिर वहाँ से मनुष्य मे जाकर मोक्ष मे जाता है, उसे चार भव होते है। वे इस प्रकार—पहला मनुष्य का भव, दूसरा युगलिक भव, तीसरा देव और अन्तिम चौथा मनुष्य भव।

जिसने परभव की आयु बाँधी ही नही है और क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न करे तो वह चरम शरीरी कहलाता है। वह तो क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न होने के बाद उसी समय चारित्रमोहनीय की क्षपणा प्रारम्भ करता है और उसी भव मे मोक्ष जाता है।

इस प्रकार दर्शनमोहनीय की क्षपणा का स्वरूप जानना चाहिए। अब चारित्रमोहनीय की उपशमना का स्वरूप कहते है और उसमे भी पहले उसके अधिकारी की योग्यता का निर्देश करते हैं।

चारित्रमोहनीय को उपशमना का स्वामित्व

चारित्रमोहनीय की उपशमना का अधिकारी वैमानिक देव सम्वन्धी जिसने आयु वाँधी हो वैसा क्षायिक सम्यग्दृष्टि अथवा वैमानिक देव सम्वन्धी आयु वाधी हो या न वाँधी हो ऐसा वेदक सम्यग्दृष्टि है। जो वेदक सम्यक्त्व होते उपशम श्रेणि माडता है—चारित्रमोहनीय की उपशमना के लिए प्रयत्न करता है वह कितने ही आचार्यो के मतानुसार प्रथम अनन्तानुवन्धि की विसयोजना करके चौवीस प्रकृतिक

सत्ता वाला और कितने ही आचार्यो के मत से अनन्तानुवन्धि की उपशमना करके अट्ठाईस प्रकृतिक सत्ता वाला दर्शनमोहत्रिक उपशमित करता हे। उसके वाद चारित्रमोहनीय की उपशमना के लिए प्रयत्न करता है। अनन्तानुवन्धि की विसयोजना और उपशमना कैसे करता है, इसका पूर्व मे सकेत किया जा चुका है।

इस प्रकार से चारित्रमोहनीय की उपशमना के अधिकारी का सकेत करने के अनन्तर अव उसी प्रसग मे दर्शनत्रिक की उपशमना की विधि वतलाते है।

दर्शनत्रिक उपशमना विधि

अहवा दसणमोह पढम उवसामइत्तु सामण्णे।
ठिच्चा अणुदइयाण पढमठिई आवली नियमा ॥४८॥
पढमुवसमव सेस अन्तमुहुत्ताउ तस्स विज्झाओ।
सकेसविसोहिओ पमत्तइयरत्तण वहुसो ॥४६॥

शब्दार्थ—**अहवा**—अथवा, **दसणमोह**—दर्शनमोह को, **पढम**—प्रथम, **उवसामइत्तु**—उपशमित करके, **सामण्णे**—श्रमणपने मे, **ठिच्चा**—रहकर, **अणुदइयाण**—अनुदितो की, **पढमठिई**—प्रथम स्थिति, **आवली**—आवलिका मात्र, **नियमा**—नियम से।

पढमुवसमव—प्रथमोपशमवत्, **सेस**—शेष, **अन्तमुहुत्ताउ**—अन्तमुहूर्त के वाद, **तस्स**—उसका (दर्शनत्रिक का), **विज्झाओ**—विध्यातसक्रम, **सकेसविसोहिओ**—सक्लेश और विशुद्धि मे, **पमत्तइयरत्तण**—प्रमत्त और इतर (अप्रमत्त) मे, **वहुसो**—अनेक वार।

गाथार्थ—अथवा प्रथम श्रमणपने मे रहकर दर्शनमोह को उपशमित करके चारित्रमोह की उपशमना करता है। अनुदित (मिथ्यात्व और मिश्रमोहनीय की) प्रथम स्थिति आवलिका मात्र होती है।

शेष कथन प्रथमोपशमवत् जानना चाहिये। अन्तमुहूर्त के बाद दर्शनद्विक का विध्यातसक्रम प्रवर्तित होता है। सक्लेश और विशुद्धि से अनेक बार प्रमत्त और अप्रमत्त मे जाता है।

विशेषार्थ—वैमानिक देव की जिसने आयु बाधी है, ऐसा कोई जीव प्रथम अनन्तानुबन्धि क्षय करने के बाद दर्शनमोह का क्षय करके क्षायिकसम्यक्त्व प्राप्त कर चारित्रमोहनीय की उपशमना का प्रयत्न करता है। अथवा प्रथम अनन्तानुबन्धि का क्षय या उपशम करने के बाद दर्शनत्रिक को उपशमित करके भी कोई चारित्रमोहनीय की उपशमना का प्रयत्न करता है। वह दर्शनत्रिक की उपशमना श्रमणपने मे ही करता है। दर्शनत्रिक की उपशमना करते हुए यथाप्रवृत्त, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण ये तीन करण होते हैं।[1] मात्र अन्तरकरण करते अनुदित मिथ्यात्व और मिश्रमोहनीय की प्रथम स्थिति आवलिकामात्र और उदयप्राप्त सम्यक्त्वमोहनीय की प्रथमस्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण करता है। तीनो के अन्तरकरण के दलिको को सम्यक्त्वमोहनीय की प्रथमस्थिति मे डालता है तथा मिथ्यात्व और मिश्रमोहनीय के प्रथमस्थितिगत दलिक स्तिवुकसक्रम द्वारा सम्यक्त्व-मोहनीय की उदयावलिका मे सक्रमित होते हैं। सम्यक्त्वमोहनीय का प्रथमस्थिति विपाकोदय द्वारा अनुभव करते क्षीण होती है तब औपशमिक सम्यग्दृष्टि होता है। तीनो के द्वितीय स्थितिगत दलिको को अनन्तानुबन्धि की तरह उपशमित करता है और शेप कथन प्रथमोपगम सम्यक्त्व की तरह समझ लेना चाहिए।

जैसे दर्शनत्रिक को उपशमित करते अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण मे मिथ्यात्व तथा मिश्रमोहनीय के दलिको का सम्यक्त्वमोहनीय मे

---

१ इन तीनो का स्वरूप पूर्व में मिथ्यात्व या अनन्तानुबन्धि की उपशमना के प्रसग मे कहा है, वैसा ही यहाँ समझ लेना चाहिये।

उपशमना करते सातवे अप्रमत्त गुणस्थान मे यथाप्रवृत्त[1] आठवे मे अपूर्वकरण और नौवे गुणस्थान मे अनिवृत्तिकरण जानना चाहिए। अपूर्वकरण मे स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि, अबध्यमान समस्त अशुभप्रकृतियो का गुणसक्रम और अपूर्व स्थितिबन्ध पूर्व की तरह होता है।

अनिवृत्तिकरण मे भी स्थितिघात आदि पाँचो पद प्रवृत्त होते है। इस करण मे दूसरी विशेपता इस प्रकार है—अनिवृत्तिकरण के प्रथम समय मे आयु के सिवाय सात कर्मो का बन्ध और सत्ता अन्त कोडा-कोडी सागरोपम प्रमाण करता है। यद्यपि इससे पूर्व हुए अपूर्वकरणादि करणो मे भी उतना ही बध और सत्ता होती है, लेकिन उस बन्ध और सत्ता से नौव गुणस्थान का बन्ध और सत्ता असख्यातगुणहीन यानि असख्यात भाग प्रमाण समझना चाहिए तथा यद्यपि यहाँ बन्ध और सत्ता समान मालूम होती है, किन्तु बन्ध की अपेक्षा सत्ता अधिक समझना चाहिये।[2] तथा—

ठिइखंड उक्कोसपि तस्स पल्लस्स सखतमभाग।
ठितिखड बहु सहस्से एक्केक्कं जं भणिस्सामो ॥५१॥

शब्दार्थ—**ठिइखड**—स्थितिघात, **उक्कोसपि**—उत्कृष्ट से भी, **तस्स**—उसका, **पल्लस्स**—पल्योपम का, **सखतमभाग**—सख्यातवे भाग, **ठितिखड**—स्थितिघात, **बहु सहस्से**—अनेक हजारो, **एक्केक्क**—एक-एक में, **ज**—जो, **भणिस्सामो**—कहूँगा।

---

१ दर्शनत्रिक की उपशमना करने के बाद और चारित्रमोहनीय की उपशमना करते हजारो वार प्रमत्त और अप्रमत्त गुणस्थान में जाता है, उसके बाद अपूर्वकरण में। इसमे अन्तिम बार जो अप्रमत्तत्व प्राप्त होने के बाद अपूर्वकरण में प्रवेश करता है, उस अप्रमत्तत्व को चारित्रमोहनीय की उपशमना करते यथाप्रवृत्तकरण के रूप में समझना चाहिये।

२ 'कर्मप्रकृति' मे सत्ता और बन्ध सामान्य से अन्त कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण कहा है।

गाथार्थ—इस गुणस्थान मे—नौवे गुणस्थान मे—स्थितिघात उत्कृष्ट से भी पल्योपम के सख्यातवे भाग प्रमाण ही होता है। अनेक हजारो स्थितिघात होने के वाद एक-एक कर्म मे जो कुछ करता हे, उसे आगे कहूगा।

विशेषार्थ—नौवे गुणस्थान मे उत्कृष्ट से भी पल्योपम के सख्यातवे भाग प्रमाण ही स्थितिघात होता है तथा जो बन्ध होता है, उसमे भी पल्योपम के सख्यातवे भाग कम-कम करके अन्य स्थितिवन्ध करता हे तथा यद्यपि सामान्यत सातो कर्मो का स्थितिघात पल्योपम के सख्यातवे भाग प्रमाण कहा है, तथापि सत्ता मे अल्पबहुत्व इस प्रकार हे नाम और गोत्र कर्म की सत्ता उनके अल्पस्थिति वाले होने से अल्प हे, उनमे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय की अधिक हे, परन्तु तुल्यस्थिति वाले होने से स्वस्थान मे परस्पर तुल्य है, उनमे मोहनीय कर्म की सत्ता अधिक है। क्योकि जिसकी स्थिति अधिक हे, उसकी सत्ता भी अधिक और जिसकी स्थिति अल्प उसकी सत्ता भी अल्प होती हे। यद्यपि सामान्यत सत्ता अन्त कोडाकोडी है, लेकिन वह अल्पाधिक होती है, यह उक्त कथन मे स्पष्ट हो जाता है।

अव अनेक हजारो स्थितिघात जाने के वाद एक-एक कर्म के सम्बन्ध मे जो कुछ भी करता हे, उसको स्पष्ट करते है—

करणस्स संखभागे सेसे य असण्णिमाइयाण समो।
बधो कमेण पल्ल वीसग तीसाण उ दिवड्ढ ॥५२॥

शब्दार्थ—**करणस्स**—अनिवृत्तिकरण का, **सखभागे सेसे**—सख्यातवा भाग शेष रहने पर, **य**—और, **असण्णिमाइयाण**—असज्ञी आदि के, **समो**—समान, **बन्धो**—बन्ध, **कमेण**—क्रम से, **पल्ल**—पल्योपम, **वीसग**—बीस कोडाकोडी सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति वाले नाम गोत्र का, **तीसाण**—तीस कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति वाले ज्ञानावरण आदि चार कर्मो का, **दिवड्ढ**—डेढ।

गाथार्थ—अनिवृत्तिकरण का जव सख्यातवा भाग शेष रहे

तब क्रम से घटते हुए असज्ञी आदि के समान बध होता है। उसके बाद बीस कोडाकोडी की उत्कृष्ट स्थिति वाले नाम, गोत्र का एक पल्योपम और तीस कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति वाले ज्ञानावरण आदि चार कर्मों का डेढ पल्योपम का बध होता है।

विशेषार्थ—अनिवृत्तिकरण के सख्याता भाग जायें और एक भाग शेष रहे तब असज्ञी पचेन्द्रिय के स्थितिबध के समान स्थितिबध होता है। उसके बाद और भी बहुत से स्थितिघात हो जाने के बाद चतुरिन्द्रिय के स्थितिबध के तुल्य स्थितिबध होता है। इसके बाद बहुत से स्थितिघात होने के बाद त्रीन्द्रिय के स्थितिबध के तुल्य स्थिति बध होता है। इसी तरह बहुत से स्थितिघात जाने के बाद द्वीन्द्रिय के स्थितिबध के बराबर स्थितिबध होता है। इसके बाद बहुत से स्थितिघात जाने के बाद एकेन्द्रिय के स्थितिबध के तुल्य स्थितिबध होता है। उसके बाद हजारो स्थितिबध होने के अनन्तर बीस कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति वाले नाम और गोत्र कर्म का पल्योपमप्रमाण और तीस कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति वाले ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय तथा अन्तराय कर्म का डेढ पल्योपम प्रमाण स्थितिबध होता है।

ऊपर जो प्रत्येक स्थान पर हजारो स्थितिघात जाने के बाद और अतिम स्थितिबध होने के बाद यह कहा है तो उसमे ऐसा समझना चाहिये कि जितने-जितने स्थितिघात होते हैं, उतने अपूर्व-अपूर्व स्थितिबध होते है। क्योकि स्थितिघात और स्थितिबध साथ ही प्रारम्भ करता है और साथ ही पूर्ण कर नया आरम्भ करता है। जैसे सत्ता मे से स्थिति कम होती है, वैसे ही बध मे से भी कम होती है। सत्ता मे से स्थितिघात द्वारा और बध मे से अपूर्व स्थितिबध करते-करते कम होती है। तथा—

मोहस्स दोण्णि पल्ला सतेवि हु एवमेव अप्पनहू।
पलियमित्त मि बधे अण्णो संखेज्जगुणहीणो ॥५३॥

शब्दार्थ—**मोहस्स**—मोहनीय का, **दोण्णि पल्ला**—दो पल्योपम, **सतेवि**—सत्ता मे भी, **हु**—ही, **एवमेव**—इसी प्रकार, **अप्पनहू**—अल्पबहुत्व, **पलिय-मित्तमि**—पल्योपममात्र, **बधे**—बध मे, **अण्णो**—अन्य, **सखेज्जगुणहीणो**—सख्यातगुणहीन।

गाथार्थ—मोहनीय कर्म का दो पल्योपम स्थितिबध होता है। सत्ता मे भी इसी प्रकार से अल्पबहुत्व जानना चाहिये। पल्योपम मात्र स्थितिबध होने के बाद अन्य स्थितिबध सख्यात-गुणहीन होता है।

विशेषार्थ—मोहनीयकर्म का दो पल्योपम का स्थितिबध होता है। सत्ता मे स्थिति का अल्पबहुत्व बध के क्रमानुसार ही कहना चाहिये। यानि जिसका स्थितिबन्ध अधिक उसकी सत्ता अधिक और जिसका स्थितिबन्ध कम उसकी सत्ता कम जानना चाहिये। वह इस प्रकार—नाम और गोत्र कर्म की सत्ता अल्प, उसमे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अतराय की विशेषाधिक, उससे मोहनीय की अधिक है तथा जिस-जिस कर्म का जब-जब पल्योपम प्रमाण स्थितिबन्ध हो, उस-उस कर्म का उस समय से लेकर अन्य स्थितिबन्ध सख्यातगुणहीन सख्यातवे भाग प्रमाण होता है। इसीलिये नाम और गोत्र कर्म का स्थितिबध पल्योपम प्रमाण जब हुआ, उसके बाद का अन्य स्थितिबन्ध सख्यातगुणहीन होता है। शेष कर्मो का तो अन्य-अन्य स्थितिबन्ध पल्यो-पम के सख्यातवे भागहीन होता है। इसके बाद जो होता है, वह इस प्रकार है—

एवं तीसाण पुणो पल्ल मोहस्स होइ उ दिवड्ढ।
एव मोहे पल्लं सेसाणं पल्लसखसो ॥५४॥

शब्दार्थ—**एव**—इसी प्रकार, **तीसाण**—तीस कोडाकोडी सागरोपम स्थिति वालो का, **पुणो**—पुन, **पल्ल**—पल्योपम, **मोहस्स**—मोहनीय का, **होइ**—होता है, **उ**—और, **दिवड्ढ**—डेढ़, **एव**—इसी प्रकार, **मोहे**—मोहनीय

का, पल्ल—पल्योपम, सेसाण—शेप का, पल्लसखसो—पल्योपम का सख्यातवा भाग ।

गाथार्थ—इसी प्रकार तीस कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति वाले ज्ञानावरणादि का पल्योपम स्थितिबन्ध होता है और मोहनीय का डेढ पल्य । उसके बाद इसी प्रकार मोहनीय का पल्योपम स्थितिबन्ध होता है और शेष कर्मो का पल्योपम के सख्यातवे भाग प्रमाण स्थितिबन्ध होता है ।

विशेषार्थ—मोहनीयकर्म का दो पल्योपम स्थितिबन्ध होने के बाद हजारो अपूर्व स्थितिबध होने के अनन्तर तीस कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति वाले ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अतराय कर्म का एक पल्योपम और मोहनीय का डेढ पल्योपम स्थितिबध करता है । ज्ञानावरणादि का पल्योपम का स्थितिबध होने के बाद का अन्य स्थितिबध सख्यात गुणहीन होता है । मोहनीय का तो पल्योपम के सख्यातवे भाग हीन होता है । मोहनीय का डेढ पल्योपम स्थितिबध होने के बाद हजारो अन्य स्थितिबध होने के अनन्तर मोहनीय का स्थितिबध भी पल्योपम प्रमाण होता है और उसके बाद का मोहनीय का भी अन्य स्थितिबध सख्यातगुणहीन यानि पल्योपम के सख्यातवे भाग प्रमाण मात्र होता है । जिस समय मोहनीय का पल्योपम प्रमाण स्थितिबध होता है, उस समय शेप कर्मो का अन्य स्थितिबध पल्योपम के सख्यातवे भाग प्रमाण होता है । तथा—

वीसगतीसगमोहाण सतयं जहकमेण सखगुणं ।
पल्ल असखेज्जसो नामगोयाण तो बंधो ।।५५।।

शब्दार्थ—**वीसगतीसगमोहाण**—वीस और तीस कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति वालो और मोहनीय की, **सतय**—सत्ता, **जहकमेण**—अनुक्रम से, **सखगुण**—सख्यात गुणी, **पल्ल असखेज्जसो**—पल्योपम के असख्यातवे भाग, **नामगोयाण**—नाम और गोत्र का, **तो**—तो, **बधो**—बन्ध ।

गाथार्थ—वीस और तीस कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति वालो और मोहनीय की सत्ता अनुक्रम से सख्यातगुणी होती है और उसके बाद नाम और गोत्र कर्म का स्थितिबध पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण होता है ।

विशेषार्थ—जब मोहनीयकर्म का स्थितिबध पल्योपम प्रमाण होता है तब बीस कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति वाले, तीस कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति वाले और मोहनीय, इन सब कर्मों की स्थितिसत्ता अनुक्रम से सख्यातगुण होती है। वह इस प्रकार—नाम और गोत्र कर्म की सत्ता अल्प, उनसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्म की सख्यात गुणी, किन्तु स्वस्थान मे परस्पर तुल्य, उनसे मोहनीय की सख्यातगुणी है।

मोहनीयकर्म का पल्योपम प्रमाण स्थितिबन्ध जब हुआ, उसके बाद का नाम गोत्र कर्म का अन्य स्थितिबन्ध अपने पहले के बन्ध से असख्यात गुणहीन होता है। अर्थात् मात्र पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण बन्ध होता है।

यहाँ सत्ता की अपेक्षा अल्पबहुत्व इस प्रकार है—नाम और गोत्र कर्म की सत्ता अल्प और परस्पर तुल्य, उससे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्म की असख्यातगुण और स्वस्थान मे परस्पर तुल्य, उससे मोहनीय की सत्ता सख्यातगुणी है। तथा—

एव तीसाणपि हु एक्कपहारेण मोहणीयस्स।
तीसगअसखभागो ठितिबधो सतयं च भवे ॥५६॥

शब्दार्थ—**एव**—इसी प्रकार **तीसाण**—तीस कोडाकोडी की स्थिति वाले कर्मों का भी **एक्कपहारेण**—एक प्रहार से **मोहणीयस्स**—मोहनीय का **तीसगअसखभागो**—तीस कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति वाले कर्मों का असख्यातवा भाग **ठितिबधो**—स्थितिबध **सतय**—सत्ता **च**—और **भवे**—होती है।

गाथार्थ—इसी प्रकार नाम और गोत्र के क्रम से तीस कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति वाले कर्मों का भी पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण स्थितिबध होता है। उसके बाद एक ही प्रहार से मोहनीय का पल्योपम का असख्यातवा भाग स्थिति-

बध होता है। वह स्थितिबध तीस कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति वालो का असख्यातवे भाग होता है। जैसा बध वैसी सत्ता भी होती है।

विशेषार्थ—इसी प्रकार नाम और गोत्र कर्म के क्रम से—नाम और गोत्र कर्म का असख्यातगुणहीन बध होने के अनन्तर हजारो स्थितिबध हो जाने के बाद ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय का स्थितिबध अपने पूर्व स्थितिबध से असख्यातगुणहीन होता है, यानि उसके असख्यातवे भागप्रमाण होता है। इस समय सत्ता की अपेक्षा अल्पबहुत्व इस प्रकार होता है—नाम और गोत्र कर्म की सत्ता अल्प, उससे ज्ञानावरणादि चार कर्मों की असख्यात गुण और स्वस्थान मे परस्पर तुल्य उससे मोहनीय की सत्ता असख्यात गुणी होती है।

तत्पश्चात् हजारो स्थितिबध हो जाने के अनन्तर एक ही प्रहार से अर्थात् एकदम मोहनीयकर्म का पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण बध होता है और वह भी ज्ञानावरणादि से असख्यात गुणहीन होता है। अभी तक जो ज्ञानावरणादि की अपेक्षा मोहनीय का असख्यातगुणा बध होता था अब मोहनीय से ज्ञानावरणादि का असख्यातगुणा बध होने लगता है।[1] सत्ता मे भी इसी प्रकार से परिवर्तन होता है। तब सत्ता की अपेक्षा अल्पबहुत्व इस प्रकार है—नाम और गोत्र की सत्ता अल्प, उससे मोहनीय की सत्ता असख्यात गुणो, उससे ज्ञानावरणादि चार कर्मों की सत्ता असख्यात गुणी होती है और स्वस्थान मे परस्पर तुल्य है। तथा—

---

१ पहले ज्ञानावरणादि से मोहनीय की सत्ता और वध असख्यात गुणा होता था, किन्तु अव प्रवल शुद्ध अध्यवसायो के कारण एकदम सत्ता मे से वडा स्थितिघात करके सत्ता कम कर देता है। इसी प्रकार वन्ध मे से स्थिति घटाकर वध भी कम करता है। जिससे मोहनीय के वन्ध और सत्ता से ज्ञानावरणादि का वन्ध और सत्ता असख्यातगुण होती है।

वीसग असखभागे मोहं पच्छा उ घाइ तइयस्स।
वीसग तओ घाई असखभागम्मि बज्झति ॥५७॥

शब्दार्थ—**वीसग**—बीस कोडाकोडी सागरोपम के बध वालो, **असखभागे**—असख्यातवें भाग, **मोह**—मोहनीय का, **पच्छा**—बाद मे, **उ**—और, **घाइ**—घाति कर्म, **तइयस्स**—तीसरे कर्म के, **वीसग**—बीस कोडाकोडी सागरोपम वालो से, **तओ**—फिर, **घाई**—घाति कर्म, **असंखभागम्मि**—असख्यातवें भाग, **बज्झति**—बधते है।

गाथार्थ—बीस कोडाकोडी सागरोपम वालो (नाम और गोत्र) के बन्ध के असख्यातवे भाग मोहनीय का बन्ध होता है। बाद मे तीसरे कर्म से नीचे घाति कर्म जाते है। उसके बाद बीस कोडाकोडी सागरोपम वालो (नाम और गोत्रकर्म) के असख्यातवे भाग घातिकर्म बँधते है।

विशेषार्थ—बध और सत्ता मे से बहुत सी स्थिति,कम होकर मोहनीयकर्म का ज्ञानावरणादि से असख्यातगुणहीन स्थितिबन्ध और सत्ता होने के अनन्तर हजारो स्थितिबन्ध होने के बाद तथा एक साथ वन्ध मे से स्थिति कम होकर उसका नाम गोत्र के नीचे असख्यातगुणहीन वन्ध होता है। यानि नाम और गोत्र के बन्ध से असख्यात गुणहीन मोहनीय का वन्ध होता है। तब—

स्थितिबन्ध की अपेक्षा अल्पबहुत्व इस प्रकार है—मोहनीय का स्थितिबन्ध अल्प, उससे नाम और गोत्र कर्म का असख्यातगुण और स्वस्थान मे परस्पर तुल्य, उससे ज्ञानावरणादि चार कर्मो का असख्यातगुण और स्वस्थान मे परस्पर तुल्य वन्ध होता है।

इसके बाद पुन हजारो स्थितिबन्ध होने के अनन्तर वेदनीय के नीचे ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का वन्ध होता है। अर्थात् वेदनीय से उनका वन्ध असख्यातगुणहीन होता है। अभी तक उन चारो का वन्ध तुल्य होता था। तब—

स्थितिबन्ध सम्बन्धी अल्पबहुत्व इस प्रकार है—

मोहनीय का स्थितिबन्ध अल्प, उससे नाम गोत्र कर्म का असख्यातगुण और स्वस्थान मे परस्पर तुल्य तथा उससे ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का असख्यातगुण, स्वस्थान मे परस्पर तुल्य और उससे वेदनीय का असख्यातगुण बन्ध होता है ।

इसके बाद हजारो स्थितिबन्ध हो जाने के अनन्तर बीस कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति वाले नाम और गोत्र कर्म के असख्यातवे भाग ज्ञानावरण आदि तीन कर्मो का स्थितिबध होता है। अभी तक नाम और गोत्र के बध से असख्यातगुण ज्ञानावरणादि तीन कर्मो का बन्ध होता था, किन्तु अब ज्ञानावरणादि तीन कर्मो से नाम और गोत्र कर्म का असख्यातगुण बन्ध होता है। यहाँ अल्पवहुत्व इस प्रकार है—मोहनीय कर्म का स्थितिवन्ध अल्प, उससे ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अतराय का असख्यातगुण और स्वस्थान मे परस्पर तुल्य, उससे भी नाम और गोत्र कर्म का असख्यात गुण और स्वस्थान मे तुल्य, उससे वेदनीय कर्म का असख्यातगुण[1] स्थितिवन्ध होता है। इस प्रकार से बन्ध के अनुरूप सत्ता सम्वन्धी अल्पवहुत्व भी समझ लेना चाहिये। क्योंकि बन्ध मे से स्थिति कम होने के समान ही सत्ता मे से भी कम होती है। तथा—

असखसमयबद्धाणुदीरणा होइ तमि कालम्मि ।
देसघाइरस तो मणपज्जव अन्तरायाण ॥५८॥

शब्दार्थ—**असखसमयबद्धाणुदीरणा**—असख्यात समय तक के बधे हुए कम की उदीरणा, **होइ**—होती है, **तमि**—उस, **कालम्मि**—काल मे, **देसघाइरस**—देशघाति रस, **तो**—इसके वाद, **मणपज्जवअतरायाण**—मनपर्याय ज्ञानावरण और अतरायकम का।

गाथार्थ—उस समय असख्यात समय तक के बधे हुए कर्म की ही उदीरणा होती है। उसके वाद हजारो स्थितिघात

---

१ 'कर्म प्रकृति' मे वेदनीय का विशेपाधिक स्थितिवध वताया है।

होने के अनन्तर मनपर्यायज्ञानावरण और (दान) अन्तराय का देशघाति रस बंध होता है।

विशेषार्थ—जिस समय सभी कर्मों का पल्योपम का असंख्यातवां भाग प्रमाण स्थितिबंध होता है, उस समय असंख्यात समय के बंधे हुए कर्मों की ही उदीरणा होती है। इसका कारण यह है कि जो प्रकृति बंधती है, उसकी स्थिति की अपेक्षा जो समयादि न्यून सत्तागत स्थितियां है, वे ही उदीरणा को प्राप्त होती है, दूसरी नहीं। क्योंकि दीर्घ काल की बंधी हुई स्थितियां लगभग क्षय हो गई होती है, इसीलिए असंख्य समय के बंधे हुए कर्मों की ही उस समय उदीरणा होती है। उसके बाद हजारों स्थितिबंध होने के अनन्तर मनपर्यायज्ञानावरण और दानान्तराय का देशघाति रस बंधता है। तथा—

लाहोहीणं पच्छा भोगअचक्खुसुयाण तो चक्खु।
परिभोगमइण तो विरियस्स असेढिगा घाई ॥५६॥

शब्दार्थ—**लाहोहीणं**—लाभान्तराय, अवधिज्ञानावरण, अवधिदर्शनावरण, **पच्छा**—पश्चात, **भोगअचक्खुसुयाण**—भोगान्तराय, अचक्षुदर्शनावरण, श्रुतज्ञानावरण, **तो**—उसके बाद, **चक्खु**—चक्षुदर्शनावरण, **परिभोगमइण**—उपभोगान्तराय, मतिज्ञानावरण, **तो**—पश्चात्, **विरियस्स**—वीर्यान्तराय कर्म का, **असेढिगा**—श्रेणि पर आरूढ नहीं हुए, **घाई**—सर्वघाति।

गाथार्थ—पश्चात् लाभान्तराय, अवधिज्ञानावरण, अवधिदर्शनावरण का, उसके बाद भोगान्तराय, अचक्षुदर्शनावरण और श्रुतज्ञानावरण का, उसके बाद चक्षुदर्शनावरण का देशघाति रस बंध करता है, उसके बाद उपभोगान्तराय और मतिज्ञानावरण का और उसके बाद वीर्यान्तराय का देशघाति रसबन्ध करता है। किन्तु श्रेणि पर आरूढ नहीं हुए सर्वघाति रस ही बांधते हैं।

विशेषार्थ—मनपर्यायज्ञानावरण और दानान्तराय का देशघाति

रस होने के बाद हजारो स्थितिबन्ध व्यतीत होने के अनन्तर लाभा-न्तराय, अवधिज्ञानावरण, अवधिदर्शनावरण का देशघाति रस बाधता है तत्पश्चात् सख्याता हजार स्थितिबन्ध व्यतीत होने के बाद भोगान्त-राय, अचक्षुदर्शनावरण और श्रुतज्ञानावरण का देशघाति रसबन्ध करता है। उसके बाद सख्याता हजार स्थितिबन्ध होने के अनन्तर चक्षुदर्शनावरण का देशघाति रसबन्ध करता है। उसके बाद हजारो बन्ध होने के अनन्तर उपभोगान्तराय और मतिज्ञानावरण का देश-घाति रसबन्ध करता है, तत्पश्चात् हजारो स्थितिबन्ध व्यतीत हो जाने के अनन्तर वीर्यान्तराय का देशघाति रसबन्ध करता है। किन्तु क्षपकश्रेणि या उपशमश्रेणि मे से किसी भी श्रेणि पर आरूढ नही हुए जीव उपर्युक्त सभी प्रकृतियो का रस सर्वघाति ही बाधते है। तथा—

सजमघाईण तओ अतरमुदओ उ जाण दोण्ह तु ।
वेयकसायण्णयरे सोदयतुल्ला उ पढमट्ठिई ॥६०॥

शब्दार्थ—**सजमघाईण**—सयम घाति प्रकृतियो का, **तओ**—तत्पश्चात्, **अतर**—अतरकरण, **उदओ**—उदय, **उ**—और, **जाण**—जिसका, **दोण्ह तु**—और दोनो, **वेयकसायण्णयरे**—वेद और कषाय मे से अन्यतर का, **सोदयतुल्ला**—स्वोदय तुल्य, **उ**—और, **पढमट्ठिई**—प्रथम स्थिति ।

गाथार्थ—तत्पश्चात् सयमघाति प्रकृतियो का अन्तरकरण होता है। वेद और कषाय इन दोनो मे से जिसका उदय हो उनकी प्रथम स्थिति स्वोदय तुल्य है।

विशेषार्थ—वीर्यान्तराय कर्म का देशघाति रस होने के बाद सख्यात हजारो स्थितिबन्ध होने के अनन्तर चारित्र का घात करने वाली अनन्तानुबन्धि कषायो को छोडकर शेष बारह कषाय और नव-नोकषाय इन इक्कीस प्रकृतियो का अन्तरकरण करता है। उसमे सज्वलन की चार कषायो मे से किसी एक का और तीन वेद मे से किसी एक का इस तरह दो प्रकृतियो का उदय होता है, जिससे उन दो प्रकृतियो की प्रथम स्थिति अपने उदय काल जितनी करता है। यानि

उन प्रकृतियो का नौवे गुणस्थान के जिस समय तक उदय होता है, उतनी प्रथम स्थिति करता है। दूसरी शेष रही ग्यारह कषाय और आठ नोकषाय कुल उन्नीस प्रकृतियो की प्रथम स्थिति एक आवलिका जितनी करता है।

यहाँ जो बारह कषाय और नवनोकषाय इन इक्कीस प्रकृतियो का अन्तरकरण करता है, कहा है उसका आशय यह है कि अन्तरकरण यानि उपशम भाव का सम्यक्त्व या चारित्र जितने काल रहता हो, लगभग उतने काल मे भोगे जाये उतने दलिको को वहाँ से बिल्कुल दूर कर उतनी (अन्तर्मुहूर्त प्रमाण) भूमि साफ करना।

यहाँ प्रश्न होता है कि यह अन्तरकरण क्रिया इक्कीस प्रकृतियो की साथ ही होती है या क्रमपूर्वक ? यदि साथ ही होती है यानि उन्नीस अनुदयवती प्रकृतियो की एक आवलिका प्रमाण स्थिति छोडकर और उदयवती प्रकृतियो मे उदयसमय से लेकर अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति छोडकर उसके बाद के अन्तर्मुहूर्त मे भोगे जाये उतने दलिक एक स्थितिघात जितने काल मे एक साथ ही दूर होते है तो यह अर्थ हुआ कि उन्नीस प्रकृतियो के आवलिका से ऊपर के और उदयवती प्रकृतियो के अन्तर्मुहूर्त प्रमाण प्रथम स्थिति से ऊपर के अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल मे भोगे जाये उतने दलिक दूर करता है। जिससे उतनी भूमिका इक्कीस प्रकृतियो की एक साथ साफ हो गई। यदि ऐसा हो तो जिन-जिन प्रकृतियो की गुणश्रेणिया चालू हैं, उन-उनकी गुणश्रेणि—दल रचना कैसे हो ?

इसका उत्तर यह है कि उपशमसम्यक्त्व की प्राप्ति के समय जैसे मिथ्यात्व की प्रथम स्थिति दो आवलिका शेष रहती है तब गुणश्रेणि बद हो जाती है, यह कहा है, उसी प्रकार यहाँ भी अन्तरकरण किया करके जिन प्रकृतियो की प्रथम स्थिति एक आवलिका प्रमाण रखता है, उनकी उसी समय और जिन उदयवती प्रकृतियो की प्रथम स्थिति उदयकाल प्रमाण अन्तर्मुहूर्त रखता है, उनकी प्रथम

स्थिति दो आवलिका प्रमाण बाकी रहे तब गुणश्रेणि बद हो जाती है और प्रथम गुणश्रेणि द्वारा अन्तरकरण के अमुक भाग मे जो दलिक रचना हुई थी वह भी अन्तरकरण के साथ ही दूर हो जाती है। इस तरह इक्कीस प्रकृतियो की अन्तरकरण करने की क्रिया एक ही साथ प्रारम्भ होती है और समाप्त भी साथ ही होती है।

कदाचित् यहाँ यह प्रश्न हो कि इक्कीस प्रकृतियो मे से उन्नीस प्रकृतियो की प्रथम स्थिति एक आवलिका प्रमाण होती है, जिससे उसके बाद के अन्तरकरण किये गये अन्तमुहूर्त प्रमाण स्थान मे दलिक नही होते है तो फिर क्रोधोदय मे श्रेणि माडनेवाले को मान, माया लोभ आदि का बाद मे क्रमश उदय कहा से हो ? तो इसका उत्तर यह है कि जैसे क्षपक श्रेणि मे क्रोधोदय मे श्रेणि माडने वाले के क्रोध को प्रथम स्थिति एक आवलिका शेष रहे तव मान आदि तीन का अन्तरकरण हुआ होने से वहाँ दलिक हैं ही नही किन्तु दूसरी स्थिति मे वर्तमान मान के दलिको को आकर्षित कर नीचे लाकर अन्तमुहूर्त प्रमाण काल मे भोगे जाये, उतनी प्रथम स्थिति बनाकर वेदन करता है और मान की प्रथम स्थिति एक आवलिका रहे तब माया की और माया की प्रथम स्थिति एक आवलिका रहे तब लोभ की द्वितीय स्थिति मे से दलिको को खीचकर अन्तमुहूर्त काल प्रमाण अनुक्रम से माया और लोभ की प्रथम स्थिति बनाता है और वेदन करता है। उसी प्रकार उपशम श्रेणि मे भी क्रोधोदय से श्रेणि माडने वाले के क्रोध की प्रथम स्थिति एक आवलिका वाकी रहे तब मान का अन्तरकरण क्रिया होने से वहाँ दलिक नही हैं, परन्तु मान की ऊपर की स्थिति मे से दलिको को नीचे लाकर अन्तमुहूर्त प्रमाण प्रथम स्थिति वनाकर वेदन करता है। इसी प्रकार माया और लोभ के लिये भी समझना चाहिये और क्षपक श्रेणि की तरह उपशम श्रेणि मे भी ऐसा ही करने का कारण जीव स्वभाव है।

अव सज्वलन कषायचतुष्क और वेदत्रिक का स्वोदय काल वतलाते हैं—

थीअपुमोदयकाला संखेज्जगुणा उ पुरिसवेयस्स ।
तस्सवि विसेसअहिओ कोहे तत्तोवि जहकमसो ॥६१॥

शब्दार्थ—**थीअपुमोदयकाला**—स्त्रीवेद, नपुंसक वेद के कारा से, **संखेज्जगुणा**—संख्यातगुणा, **उ**—और, **पुरिसवेयस्स**—पुरुषवेद का, **तस्सवि**—उससे भी, **विसेसअहियो**—विशेषाधिक, **कोहे**—क्रोध का, **तत्तोवि**—उससे भी, **जहक्कमसो** अनुक्रम से मान आदि का ।

गाथार्थ—स्त्रीवेद और नपुंसकवेद के उदयकाल से पुरुषवेद का उदय काल संख्यातगुणा है, उससे क्रोध का और उससे भी मान आदि तीन का अनुक्रम से विशेषाधिक-विशेषाधिक है ।

विशेषार्थ—स्त्रीवेद और नपुंसकवेद का उदयकाल पुरुषवेद के उदयकाल की अपेक्षा अल्प है, किन्तु स्वस्थान मे परस्पर तुल्य है, उससे पुरुषवेद का उदयकाल संख्यातगुणा है । उस पुरुषवेद के उदयकाल से सज्वलन क्रोध का उदय काल विशेषाधिक है, उससे अनुक्रम से मान, माया और लोभ का उदयकाल विशेषाधिक-विशेषाधिक है ।

प्रश्न—सज्वलन क्रोधादि का उदय कहाँ तक होता है ?

उत्तर—सज्वलनक्रोध के उदय मे उपशमश्रेणि स्वीकार करने वाले को जब तक जहाँ तक अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण क्रोध का उपशम नही होता है, तब तक सज्वलनक्रोध का उदय होता है । सज्वलनमान के उदय मे श्रेणिआरम्भ करने वाले के जब तक अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण मान का उपशम नही हुआ होता है, तब तक सज्वलनमान का उदय होता है । सज्वलन-माया के उदय से श्रेणि आरभक के, जब तक अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण माया शात न हो गई हो, तब तक सज्वलन माया का उदय होता है और सज्वलन लोभ के उदय मे श्रेणि-आरभक के जब तक अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण लोभ का उपशम न हो तब तक बादर सज्वलन लोभ का उदय होता है । बादर लोभ को

शात करके सूक्ष्मसपरायगुणस्थान मे जाता है। इस प्रकार अन्तर-करण ऊपर की अपेक्षा समान स्थिति वाला है और अधोभाग की अपेक्षा उक्त न्याय से विषम स्थिति वाला है। तथा—

अंतरकरणेण सम ठितिखडगबधगद्धनिप्फत्ति ।
अंतरकरणाणतरसमए जायति सत्त इमे ॥६२॥

एगट्ठाणाणुभागो बधो उदीरणा य सखसमा ।
अणुपुव्वी सकमण लोहस्स असकमो मोहे ॥६३॥

बद्ध बद्ध छसु आवलीसु उवरेणुदीरण एइ ।
पडगवेउवसमणा असखगुणणाइ जावत ॥६४॥

शब्दार्थ—अतरकरणेणसम—अतरकरण के साथ, **ठितिखडगबधगद्ध-निप्फत्ति**—स्थितिघात, अपूर्व स्थितिबध की निष्पत्ति, **अतरकरणाणतरसमए**—अतरकरण के अनन्तर समय मे **जायति**—होते हैं, **सत्त**—सात, **इमे**—यह।

एगट्ठाणाणुभागो—एकस्थानक रसबध, **बधो**—स्थितिबध, **उदीरणा**—उदीरणा, **य**—और, **सखसमा**—सख्यात वर्ष के बराबर, **अणुपुव्वीसंकमण**—आनुपूर्वी-सक्रमण, **लोहस्स**—लोभ का, **असकमो**—सक्रमण का अभाव, **मोहे**—मोहनीय कर्म मे।

बद्ध बद्ध छसु आवलीसु—बधे हुए दलिक की छह आवलिका, **उवरेणु-दीरण**—जाने के बाद उदीरणा, **एइ**—होती है, **पडगवेउवसमणा**—नपुसक-वेद की उपशमना, **असखगुणणाइ**—असख्यात गुणाकार रूप से, **जावत**—अन्तपर्यन्त।

गाथार्थ—अन्तरकरण के साथ ही स्थितिघात और अपूर्व स्थितिबध की निष्पत्ति होती है। अन्तरकरण के अनन्तर समय मे निम्नलिखित सात पदार्थ होते है—

१ मोहनीय का एक स्थानक रसबध, २ मोहनीय का सख्यात वर्ष प्रमाण स्थितिबध, ३ मोहनीय की सख्यात वर्ष की

उदीरणा, ४ आनुपूर्वी सक्रमण, ५ लोभ के सक्रमण का अभाव, ६ बधे हुए दलिक की छह आवलिका जाने के बाद उदीरणा और, ७ नपु सक वेद की पूर्व-पूर्व से उत्तर-उत्तर समय मे अन्तपर्यन्त असख्यातगुणाकार रूप से उपशमना ।

विशेषार्थ—अन्तरकरण के साथ ही स्थितिघात और अपूर्वस्थिति-बध की निष्पत्ति—पूर्णता होती है। यानि जितने काल मे एक स्थिति-खड का घात करता है अथवा अपूर्व स्थितिबध करता है, उतने ही काल मे अन्तरकरण क्रिया पूर्ण करता है । इन तीनो को एक साथ प्रारभ करता है और एक साथ ही पूर्ण करता है । स्थितिघात जितना ही काल होने से अन्तरकरण क्रिया काल मे हजारो बार रसघात होता है ।

अन्तरकरण मे दलिकनिक्षेप का क्रम इस प्रकार है —

जिस कर्म का उस समय बध और उदय दोनो हो उसके अन्तर-करण के दलिक प्रथमस्थिति और द्वितीयस्थिति दोनो मे निक्षिप्त करता है । अर्थात् कितने ही दलिको को प्रथमस्थिति के साथ भोगा जा सके, वैसे करता है और कितनेक को द्वितीयस्थिति के साथ भोगा जा सके, वैसे करता है । जैसे पुरुषवेद के उदय मे श्रेणि आरम्भ करने वाला पुरुषवेद के दलिको को दोनो स्थितियो मे निक्षिप्त करता है । जिस कर्म का केवल उदय हो किन्तु बध नही होता, उसके अन्तर-करण के दलिको को प्रथमस्थिति मे ही डालता है । जैसे स्त्रीवेद के उदय मे श्रेणि आरभ करने वाला स्त्रीवेद के दलिक को प्रथमस्थिति मे डालता है । जिस कर्म का उस समय केवल बध होता हो, उदय नही होता उसके अन्तरकरण सम्बन्धी दलिको को द्वितीयस्थिति मे ही डालता है, किन्तु प्रथम स्थिति मे निक्षेप नही करता है । जैसे सज्वलन क्रोध के उदय मे श्रेणि आरभक मानादि के अन्तरकरण के दलिको को द्वितीयस्थिति मे ही डालता है और जिस कर्म का उस समय बध या उदय कोई एक भी नही होता, उसके अन्तरकरण के

दलिको को बधती स्वजातीय पर प्रकृति मे डालता है। जैसे दूसरी और तीसरी कषाय के दलिको को पर प्रकृति मे प्रक्षिप्त करता है। तथा—

जिस समय अन्तरकरण क्रिया प्रारभ होती है, उसके वाद के समय से निम्नलिखित सात पदार्थ एक साथ प्रारभ होते है—

१ जिस समय अन्तरकरणक्रिया शुरू हुई, उसके बाद के समय से मोहनीय कर्म का रसबध एकस्थानक होता है।

२-३ मोहनीयकर्म की उदीरणा सख्यात वर्ष की ही होती है। क्योकि उस समय सख्यातवर्ष से अधिक स्थिति सत्ता मे नही होती है तथा गाथागत उदीरणा के वाद का 'य' शब्द अनुक्त का समुच्चायक होने से यह आशय समझना चाहिये कि मोहनीय का जो स्थितिबध होता है, वह सख्यात वर्ष का होता है और वह भी पूर्व-पूर्व से सख्यातगुणहीन होता है।

४ पुरुषवेद और सज्वलनचतुष्क का क्रमपूर्वक ही सक्रम होता है, अर्थात् जिस-जिस प्रकृति का पहले बधविच्छेद होता है उसके दलिक उत्तर-उत्तर मे बधविच्छेद होने वाली प्रकृतियो मे जाते है, परन्तु बाद मे बधविच्छेद होने वाली प्रकृतियो के दलिक पूर्व मे वध-विच्छेद होने वाली प्रकृति मे नहीं जाते हैं। जैसे कि पुरुषवेद के दलिक क्रोधादि मे जाते है, क्रोध के मानआदि मे जाते है परन्तु क्रोधादि के पुरुषवेद मे या मानादिक के क्रोध मे नही जाते हैं। अन्तरकरण से पहले तो परस्पर सक्रम होता था।

५ अन्तरकरण के वाद सज्वलन लोभ का अन्य किसी प्रकृति मे सक्रमण नही होता है।

६ अभी तक वधे हुए कर्म की वधावलिका वीतने के बाद उदीरणा होती थी, किन्तु अन्तरकरणक्रिया की शुरुआत के द्वितीय समय से जो कर्म बधता है, वह छह आवलिका के वाद उदीरणा को प्राप्त होता है।

७ नपु सकवेद को असख्य-असख्य गुणाकार रूप मे उपशमना उपशमक्रिया के चरमसमय पर्यन्त होती है और वह इस प्रकार—पहले समय मे नपु सकवेद के दलिक स्तोक उपशमित करता है। [उन दलिको को इस प्रकार से शात करता है—उनकी ऐसी स्थिति बना देता है कि अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त चारित्रमोहनीय की किसी भी प्रकृति मे उदय उदीरणा आदि करण प्रवर्तित नही होता है।] दूसरे समय मे असख्यातगुण उपशमित करता है। तीसरे समय मे उससे असख्यातगुण उपशमित करता है। इस प्रकार प्रति समय असख्यात-असख्यात गुण चरमसमय पर्यन्त उपशमित करता है।

नपु सकवेद को उपशमित करते जितना काल जाये उस काल का चरमसमय यहाँ जानना चाहिये तथा जितना दलिक उपशात करता है, उसकी अपेक्षा परप्रकृति मे असख्यातगुण द्विचरमसमयपर्यन्त सक्रमित करता हे और चरम समय मे तो अन्यप्रकृति मे जितना सकमित होता है, उसकी अपेक्षा असख्यातगुण उपशात होता है।

नपु सकवेद की उपशमना के प्रथम समय से लेकर समस्त कर्मो की उदीरणा दलिको की अपेक्षा अल्प होती है और उदय असख्यात गुणा होता है। इसका कारण यह है कि गुणश्रेणि द्वारा बहुत-सा दलिक नीचे की स्थितियो मे क्रमबद्ध स्थापित होने से उदीरणाकरण द्वारा दूसरीस्थिति मे से जितना दलिक खीचकर भोगा जाता है उससे उदय द्वारा असख्यातगुणा अधिक भोगा जाना है। तथा—

अतरकरणपविट्ठो सखासखंसमोहइयराण।
बधादुत्तरबधो एवं इत्थीए संखसे ॥६५॥
उवसंते घाईणं सखेज्जसमा परेण सखंसो।
बंधो सत्ताण्हेव संखेज्जतमम्मि उवसते ॥६६॥

नामगोयाण सखा बंधो वासा असखिया तइए ।
ता सव्वाण वि सखा तत्तो सखेज्जगुणहाणी ॥६७॥

शब्दार्थ—**अतरकरणपविट्ठो**—अत करण मे प्रविष्ट, **सखासखस**—सख्यातगुण और असख्यातगुण हीन, **मोहइयराण**—मोहनीय और इतर कर्मो का, **बधावुत्तरबधो**—बध के बाद का बध, **एव**—इसी प्रकार, **इत्थीए**—स्त्रीवेद को, **सखसे**—सख्यातवें भाग ।

उवसते—उपशात होने पर, **घाईण**—घाति कर्मो का, **सखेज्जसमा**—सख्यात वर्ष प्रमाण, **परेण**—उसके बाद का, **सखसो**—सख्यातवा भाग, **बधो**—बध, **सत्तण्हेव**—सात नोकषायो को इसी प्रकार, **सखेज्जतमंमि**—सख्यातवें भाग, **उवसते**—उपशात होने पर ।

नामगोयाण—नाम और गोत्र कर्म का, **सखा**—सख्यात, **बधो**—बध, **वासा**—वर्ष, **असखिया**—असख्यात, **तइए**—तीसरे वेदनीय कर्म का, **ता**—तत्पश्चात्, **सव्वाणवि**—सभी कर्मों का, **सखा**—सख्यात, **तत्तो**—उसके बाद, **सखेज्जगुणहाणी**—सख्यात गुणहीन ।

गाथार्थ—अन्तरकरण मे प्रविष्ट जीव मोहनीयकर्म और इतर कर्मो का बध के बाद का बध अनुक्रम से सख्यातगुणहीन और असख्यातगुणहीन करता है । इसी तरह स्त्रीवेद को उपशमित करता है और स्त्रीवेद का सख्यातवा भाग उपशात होने पर—

घाति कर्मों का सख्यातवर्षप्रमाण स्थितिबध होता है, उसके बाद उनका सख्यातवे भाग स्थितिबध होता है । इसी प्रकार सात को उपशात करता है, और उनका सख्यातवा भाग उपशात होने पर—

नाम और गोत्र कर्म का सख्यातवर्षप्रमाण और तीसरे वेदनीय कर्म का असख्यातवर्षप्रमाण स्थितिबध होता है, तत्पश्चात् सभी कर्मो का सख्यातवर्षप्रमाण बध होता है, उसके बाद सख्यातगुणहीन बध होता है ।

विशेषार्थ—अन्तरकरण मे प्रवेश करके जीव पहले समय मे ही मोहनीय का जो बध करता है, उससे उसके बाद का बध सख्यातगुण-हीन करता है। यानि अन्तरकरण के पहले समय मे जो बध करता है, उसके सख्यातवे भागप्रमाण बाद का बध करता है। जो बध जिसकी अपेक्षा सख्यातवे भाग है, वह बध उसकी अपेक्षा सख्यातगुणहीन ही कहलाता है तथा मोहनीय वर्जित शेष कर्मो का पूर्व बध से उत्तर बध असख्यातगुणहीन करता है—असख्यातवे भाग प्रमाण करता है।

इस प्रकार की क्रिया करते अन्तर्मुहूर्त मे नपु सकवेद उपशात करता है और उसको उपशमित करने के बाद स्त्रीवेद को उपशमित करने की क्रिया प्रारभ होती है तथा उसको हजारो स्थितिबध बीतने के बाद नपु सकवेद की उपशमना के अनुसार उपशमित करता है। अर्थात् नपु सकवेद के उपशमित होने के बाद हजारो स्थितिघात जितने काल मे स्त्रीवेद को भी उपशमित करता है और स्त्रीवेद को उपशमित करते हुए उसका सख्यातवा भाग उपशात होने के अनन्तर घाति कर्मो—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, और अन्तराय का सख्यात वर्ष प्रमाण स्थितिबध होता है।

उस सख्यातवर्षप्रमाण स्थितिबध होने के बाद का जो स्थितिबध होता है, उस समय से लेकर केवलज्ञानावरण को छोडकर शेष चार ज्ञानावरण का, केवलदर्शनावरण को छोडकर शेष तीन दर्शनावरण का एकस्थानक रसबध करता है। उसके बाद हजारो स्थितिबंध होने के बाद स्त्रीवेद उपशात होता है। स्त्रीवेद के उपशात होने के अनन्तर नपु सकवेद को जिस तरह उपशमित किया, उसी प्रकार हास्यषट्क और पुरुषवेद इन सात प्रकृतियो की एक साथ उपशमन क्रिया प्रारम्भ करता है।

इन सात को उपशमित करते उनका सख्यातवा भाग जब उपशमित हो जाता है तब नाम और गोत्र कर्म का सख्यातवर्षप्रमाण और तीसरे वेदनीय कर्म का असख्यातवर्षप्रमाण स्थितिबध होता है।

उस स्थितिबंध के पूर्ण होने के बाद वेदनीय कर्म का भी उत्तर का स्थितिबंध संख्यातवर्षप्रमाण होता है। वेदनीयकर्म का संख्यात वर्ष प्रमाण स्थितिबंध होने के बाद से समस्त कर्मों का स्थितिबंध संख्यातवर्षप्रमाण होता है और पूर्व-पूर्व स्थितिबंध से उत्तर-उत्तर का स्थितिबंध संख्यातगुण हीन-हीन होता है। तत्पश्चात् हजारों स्थितिबंध हो जाने के बाद हास्यषट्क और पुरुषवेद ये सातों नोकषाय शांत होती है।

हास्यषट्क उपशांत होने के बाद पुरुषवेद का अनुपशमित जितना दलिक शेष रहता है, उसका प्रमाण इस प्रकार है—

> जं समए उवसंतं छक्कं उदयट्ठिई तया सेसा।
> पुरिसे समऊणावलिदुगेण बंधं अणुवसंतं ॥६८॥

शब्दार्थ—**जं समए**—जिस समय, **उवसंतं**—उपशांत हुआ, **छक्कं**—(हास्य) षट्क, **उदयट्ठिई**—उदयस्थिति, **तया**—तब, **सेसा**—शेष, **पुरिसे**—पुरुषवेद का, **समऊणावलिदुगेण**—समयोन आवलिकाद्विक, **बंधं**—बंधा हुआ, **अणुवसंतं**—अनुपशांत।

गाथार्थ—जिस समय हास्यषट्क उपशांत हुआ उस समय पुरुषवेद का एक उदयस्थिति और समयोन आवलिकाद्विक काल में बंधा हुआ दलिक अनुपशांत शेष रहता है।

विशेषार्थ—जिस समय हास्यादि छह नोकषाय उपशमित हुईं, उस समय पुरुषवेद की एक उदयस्थिति—मात्र उदय-समय शेष रहता है और शेष सभी प्रथमस्थिति भोग ली जाती है। उस प्रथम-स्थिति के चरम समय में पुरुषवेद का अंतिम सोलहवर्षप्रमाण स्थितिबंध होता है। उसके साथ द्वितीयस्थिति में समयन्यून आवलि-काद्विककाल में बंधा हुआ दलिक अनुपशमित शेष रहता है। शेष सबकी उपशमना हो चुकी होती है।

जिसका विशेषता के साथ स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

आगालेण समग पडिग्गहया फिडई पुरिसवेयस्स ।
सोलसवासिय बधो चरिमो चरिमेण उदएण ।।६९।।

तावइ कालेण चिय पुरिस उवसामए अवेदो सो ।
बंधो बत्तीससमा सजलणियराण उ सहस्सा ।।७०।।

शब्दार्थ—**आगालेण समग**—आगाल के साथ, **पडिग्गहया**—पतद्ग्रहता, **फिडइ**—नष्ट हो जाती है, **पुरिसवेदस्स**—पुरुषवेद की, **सोलसवासिय**—सोलह वर्ष का, **बधो**—बध, **चरिमो**—चरम, **चरिमेण उदएण**—अतिम उदय के साथ ।

तावइ कालेण—उतने काल मे, **चिय**—ही, **पुरिस**—पुरुषवेद को, **उवसामए**—उपशमित करता है, **अवेदो**—अवेदक, **स**—वह, **बधो**—बध, **बत्तीस समा**—बत्तीस वर्ष पमाण, **सजलणियराण**—सज्वलनकषाय और अन्य कर्मो का, **उ**—और, **सहस्सा**—सख्याता हजार वर्ष ।

गाथार्थ—आगाल के साथ पुरुषवेद की पतद्ग्रहता नष्ट हो जाती है। सोलह वर्ष का चरमबध भी अतिम उदय के साथ नष्ट हो जाता है तथा अवेदक होता हुआ अनुपशमित पुरुषवेद को उतने ही काल मे उपशमित करता है। जिस समय पुरुषवेद उपशात हुआ, उस समय सज्वलन कषाय का बत्तीस वर्ष प्रमाण और इतर कर्मो का सख्याता हजार वर्ष का बंध होता है।

विशेषार्थ—पुरुषवेद की प्रथमस्थिति की दो आवलिका शेष रहती है तब उसके आगाल का विच्छेद होता है और उसी समय पुरुषवेद की पतद्ग्रहता भी नष्ट होती है। यानि हास्यादि षट्कादि प्रकृतियो के दलिक पुरुषवेद मे नही परन्तु सज्वलनक्रोधादि मे सक्रमित होते है। पुरुषवेद का सोलहवर्षप्रमाण जो अतिम स्थितिबध होता है, वह भी प्रथमस्थिति के अतिम उदयसमय के साथ नष्ट हो जाता है।

बध और उदय साथ ही दूर होते हैं और उदीरणा प्रथमस्थिति की एक आवलिका बाकी रहे तब दूर होती है और सज्वलन कषाय-चतुष्क का सख्याता हजारवर्ष का बध होता है।

जिस समय पुरुषवेद का अतिम बध होता है, उस समय उस समय से दूसरी आवलिका के अतिम समय का बध हुआ और सक्रम से आगत समस्त दलिक शात हो जाता है। जैसे आवलिका के चार समय मान ले और आठवे समय को अंतिम समय मान लिया जाये तो उस समय से अतिम पूर्व के आठवे समय का बधा हुआ और उस समय सक्रम से आगत अतिम समय मे शात होता है, जिससे बधविच्छेद के समय समयन्यून आवलिकाद्विक का बध हुआ ही अनुपशमित बाकी रहता है और अवेदकपने के पहले समय मे दो समय न्यून दो आवलिका-काल मे बधा हुआ उपशम बिना का शेष रहता है और उतने ही काल मे उपशमित करता है।

प्रथमस्थिति की समयन्यून आवलिकाद्विक शेष रहे तब पुरुषवेद की पतद्ग्रहता नष्ट हो जाने से अवेदकपने के प्रथमसमय मे सक्रम से प्राप्त दलिक को शान्त करना रहता ही नही है। इसका कारण यह है कि जिस समय बधे उस समय से एक आवलिका तदवस्थ बना रहता है और आवलिका पूरी होने के बाद उपशम करना प्रारम्भ करता है और एक आवलिकाकाल मे उपशमित कर देता है। इस कारण ही जिस समय बधा, उस समय से आवलिका जाने के बाद अनन्तरवर्ती आवलिका के चरम समय से पूर्णरूप से शान्त होता है। यानि जिस समय अन्तिम वध होता है, उस समय से लेकर पूर्व के दूसरी आव-लिका के चरम समय मे जो बधा वह बधविच्छेद के समय शान्त होता है और बाद के समय जो वधा वह अवेदकपने के पहले समय मे शान्त होता हे। इस क्रम से शान्त करता है, इसीलिए अवेदकपने के प्रथम समय मे दो समयन्यून आवलिकाद्विक काल का वधा हुआ ही अनुपश-मित शेष रहता है और उसको उतने ही काल मे शान्त करता है।

उपशमक्रिया करने का क्रम इस प्रकार है—बधविच्छेद के बाद का यानि अबध के प्रथम समय मे स्तोक उपशमित करता है, द्वितीय समय मे असख्यातगुण, तृतीय समय मे उससे असख्यातगुण उपशमित करता है। इस प्रकार उपशम करते हुए दो समय न्यून दो आवलिका के चरम समय मे पूर्ण रूप से उपशमित करता है। जैसे उपशमित करता है वैसे ही दो समय न्यून दो आवलिका पर्यन्त यथाप्रवृत्तसक्रम के द्वारा पर मे सक्रमित भी करता है।

सक्रम की विधि इस प्रकार है—पहले समय मे बहुत सक्रमित करता है, दूसरे समय मे विशेषन्यून, तीसरे समय मे विशेषन्यून, इस प्रकार चरम समय पर्यन्त सक्रमित करता है। इस तरह उत्तरोत्तर अधिक-अधिक उपशमाते और न्यून-न्यून संक्रमित करते अवेदकपने के प्रथम समय से दो समय न्यून दो आवलिकाकाल मे पुरुषवेद सम्पूर्ण शान्त होता है। जिस समय पुरुषवेद पूरी तरह से शान्त होता है, उस समय सज्वलनकपाय का बत्तीस वर्ष का[1] और शेष ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, अन्तराय, नाम और गोत्र कर्म का सख्याता हजार वर्ष का स्थितिबध होता है।

अब अप्रत्याख्यानावरणादि कषायो की उपशमना का विचार करते है।

अप्रत्याख्यानावरणादि कषायो की उपशमना

अव्वेयपढमसमया कोहतिग आढवेइ उवसमिउ।
तिसु पडिग्गहया एक्का उदओ य उदीरणा बंधो ॥७१॥
फिट्टन्ति आवलीए सेसाए सेसयं तु पुरिससम।
एव सेसकसाया वेयइ थिवुगेण आवलिया ॥७२॥

शब्दार्थ—अव्वेयपढमसमया—अवेदकपने के प्रथम समय मे, कोहतिग—

[1] कर्मप्रकृति म अन्तर्मुहूर्त न्यून बत्तीस वर्ष का बध बताया है।

क्रोधत्रिक को, आढवेइ—प्रारम्भ करता है, उवसमिउ—उपशमित करना, तिसु—तीन आवलिका, पडिग्गहया—पतद्ग्रहता, एक्का—एक की (सज्वलन-क्रोध की), उदओ—उदय, य—और, उदीरणा—उदीरणा, बधो—वध।

फिट्टन्ति—नष्ट होती है, आवलीए—आवलिका, सेसाए—शेप रहने पर, सेसय—शेप, तु—और, पुरिससम—पुरुपवेद के समान, एव—इसी प्रकार, सेसकसाया—शेप कपायो को, वेयइ—वेदन करता है थिवुगेण—स्तिवुक सक्रम द्वारा, आवलिया—आवलिका।

गाथार्थ—अवेदकपने के प्रथम समय से तीन क्रोध को उपशमित करना प्रारम्भ करता है। प्रथमस्थिति की तीन आवलिका बाकी रहे तब सज्वलन क्रोध की पतद्ग्रहता नष्ट हो जाती है और एक आवलिका शेष रहने पर उदय, उदीरणा और बध नष्ट हो जाता है। शेप पुरुषवेद के समान जानना चाहिए। इसी प्रकार शेष कपायो को उपशमित करता है तथा अन्तिम आवलिका को स्तिबुकसक्रम द्वारा वेदन करता है।

विशेषार्थ—जिस समय पुरुषवेद का अवेदक होता है तो उस अवेदकपने के प्रथम समय से लेकर अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और सज्वलन क्रोध इन तीनो क्रोध को एक साथ उपशमित करना प्रारम्भ करता है। उपशमन करते पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर समय मे असख्यात-असख्यातगुण उपशमित करता जाता है।

इन तीनो की उपशमनक्रिया प्रारम्भ करते जो स्थितिबध होता है, उसके बाद का सज्वलन का सख्यातभागहीन और शेष कर्मो का सख्यातगुणहीन स्थितिबध होता है तथा शेष स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि और गुणसक्रम पूर्व के समान ही होता है।

सज्वलनक्रोध की प्रथमस्थिति जब समयोन तीन अवलिका शेष रहे तव उसकी पतद्ग्रहता नष्ट हो जाती है। यानि सज्वलनक्रोध मे अप्रत्यास्यानावरण-प्रत्यास्यानावरण क्रोध के दलिक सक्रमित नही होते

समय न्यून दो आवलिका काल मे उपशमित करता है। उपशमित करने का क्रम इस प्रकार है—

प्रथम समय मे अल्प उपशमित करता है, दूसरे समय मे असख्यातगुण, तीसरे समय मे पूर्व मे असख्यातगुण उपशमित करता है। इस प्रकार अबध के प्रथम समय से दो समय न्यून दो आवलिका के चरम समय पर्यन्त उपशमित करता है। जैसे उपशमित करता है, वैसे ही मान आदि मे यथाप्रवृत्तसंक्रम द्वारा पुरुषवेदोक्त क्रम से सक्रमित भी करता है। इस तरह सज्वलनक्रोध को पूर्ण रूप से उपशमित करता है।

जिस समय सज्वलनक्रोध का बध, उदय और उदीरणा विच्छिन्न हुई, उसी समय यानि सज्वलनक्रोध के अबध समय से लेकर सज्वलनमान की द्वितीयस्थिति मे से दलिको को आकृष्ट कर प्रथमस्थिति करता है और अनुभव करता है। इसका कारण यह है कि जिस समय सज्वलनक्रोध का अन्तिम उदय रुका तो उसके बाद के समय से मान का उदय प्रारम्भ होता है। पूर्व के उदयविच्छेद और उत्तर के उदय के बीच अन्तर नही होता है। द्वितीयस्थिति मे से खीचे गये दलिको मे मे उदयसमय मे अल्प प्रक्षेप करता है, दूसरे समय में असख्यातगुण तीसरे समय मे असख्यातगुण प्रक्षेप करता है। इस तरह प्रथमस्थिति के चरम समय पर्यन्त प्रक्षेप करता है। अभी तक मान का प्रदेशोदय था जिससे एक प्रदेशोदयावलिका छोडकर गुणश्रेणि के क्रम से दलिक स्थापित होता था, किन्तु अब रसोदय हुआ, जिससे उदय से लेकर गुणश्रेणि के क्रम से दलिक रखे जाते है।

प्रथमस्थिति के प्रथम समय मे सज्वलनमान का स्थितिबध चार मास और शेष ज्ञानावरणादि का सख्याता हजार वर्ष का होता है। उसी समय से अप्रत्याख्यानावरणादि तीनो मान का क्रोधादि के क्रम से एक साथ ही उपशमित करना प्रारम्भ करता है।

सज्वलनमान की जब प्रथमस्थिति समयन्यून तीन आवलिका शेष रहे तब अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण मान के दलिको को सज्वलनमान मे सक्रमित नही करता है किन्तु सज्वलनमाया आदि मे सक्रमित करता है। दो आवलिका शेष रहे तब आगाल का विच्छेद होता है, केवल उदीरणा ही प्रवर्तमान रहती है और वह भी एक आवलिका पर्यन्त ही होती है। उस उदीरणावलिका के चरम समय मे बध और उदय भी रुक जाता है। ये तीनो एक साथ ही दूर होते है। उस समय प्रथमस्थिति की एक आवलिका शेष रहती है।

जिस समय मान का बधविच्छेद होता है, उस समय सज्वलन मान, माया और लोभ का स्थितिबध दो मास और शेष कर्मो का सख्याता वर्ष का होता है। अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण मान तो सर्वथा शान्त और सज्वलनमान की प्रथमस्थिति की अन्तिम एक आवलिका तथा समयोन दो आवलिका काल मे बधे हुए दलिक को छोडकर शेष सभी शान्त होता है। प्रथमस्थिति की आवलिका को स्तिबुकसक्रम द्वारा माया मे सक्रमित कर वेदन करता है और समयोन दो आवलिका काल मे बधे हुए दलिक को उतने काल मे पुरुषवेद के क्रम से उपशान्त और सक्रमित करता है।

मान का उदयविच्छेद होने के बाद सज्वलनमाया की द्वितीय-स्थिति मे से दलिको को लेकर प्रथमस्थिति करता है और वेदन करता है। उस प्रथमस्थिति के चरम समय मे माया और लोभ का दो मास का और शेष कर्मो का सख्यातवर्ष का स्थितिबध होता है। उसी समय से लेकर तीनो माया को एक साथ उपशमित करना प्रारम्भ करता है।

सज्वलनमाया की प्रथमस्थिति समयोन तीन आवलिका बाकी रहे तब अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण माया को सज्वलनमाया की पतद्ग्रहता नष्ट हो जाने से उसमे नहीं किन्तु सज्वलनलोभ मे सक्रमित करता है। दो आवलिका शेष रहे तब आगाल नही होता है,

केवल एक आवलिका पर्यन्त उदीरणा प्रवर्तित होती है। उस उदीरणा-करण के चरम समय मे सज्वलनमाया और लोभ का स्थितिबध एक मास का और शेष कर्मों का सख्यात वर्ष का होता है तथा उसी समय सज्वलनमाया के बध, उदय और उदीरणा का विच्छेद होता है। अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण माया सर्वथा शान्त और सज्वलन-माया की प्रथमस्थिति की एक आवलिका और समयोन दो आवलिका काल मे बधे हुए दलिक को छोडकर शेष समस्त शान्त हो जाता है। अवशिष्ट प्रथमस्थिति की अन्तिम आवलिका को सज्वलनलोभ मे स्तिबुकसक्रम द्वारा सक्रमित कर वेदन करता है। समयोन आवलिका-द्विक काल मे बधे हुए दलिक को उतने ही काल मे पुरुपवेद के क्रम से उपशान्त करता है और सज्वलन लोभ मे सक्रमित करता है।

उसके बाद के समय मे यानि जिस समय माया का उदयविच्छेद हुआ, उसके अनन्तरवर्ती समय मे सज्वलन लोभ की द्वितीयस्थिति मे से दलिको को लेकर प्रथमस्थिति करता है और अनुभव करता है। इसी प्रकार क्रोध का उदयविच्छेद होने के बाद मान का उदय, उसका उदयविच्छेद होने के बाद माया का उदय और उसका उदयविच्छेद होने के बाद लोभ का उदय होता है एव प्रत्येक की प्रथमस्थिति की जो अन्तिम-अन्तिम आवलिका शेष रहती है, वह उत्तर-उत्तर मे स्तिबुकसक्रम द्वारा सक्रमित करके वेदन करता है।

यद्यपि सज्वलन क्रोधादि का अपने-अपने उदय के चरम समय मे जितना स्थितिबध होता है, उसका ऊपर सकेत किया जा चुका है, लेकिन उपशम और क्षपक श्रेणि की अपेक्षा उसमे जो विशेषता है, उसको यहाँ स्पष्ट करते हैं—

चरिमुदयम्मि जहन्नो बधो दुगुणो उ होइ उवसमगे।
तयणंतरपगईए चउग्गुणोण्णेसु सखगुणो ॥७३॥

शब्दार्थ—चरिमुदयम्मि—उदय के चरम समय मे, **जहन्नो**—जघन्य, **बधो**—बध, **दुगुणो**—दुगुना, **उ**—और, **होइ**—होता है, **उवसमगे**—उपशम

श्रेणि मे, **तयणतरपगईए**—तदनन्तर प्रकृति का, **चउग्गुणोण्णेसु**—चौगुना और अन्य प्रकृतियो का, **सखगुणो**—सख्यातगुणा ।

गाथार्थ—सज्वलन क्रोधादि का अपने-अपने उदय के चरम समय मे क्षपकश्रेणि मे जो जघन्य स्थितिबध होता है उससे उपशमश्रेणि मे वह बध दुगुना होता है। तदनन्तर प्रकृति का चौगुना और अन्य कर्मो का सख्यातगुण होता है।

विशेषार्थ—क्षपकश्रेणि मे क्षपक को अपने-अपने उदय के चरम समय मे सज्वलन क्रोधादि का जो जघन्य स्थितिबध होता है, वहाँ वह स्थितिबध उपशमक को दुगुना होता है, उसी समय तदनन्तर प्रकृति का चौगुना और इसके बाद की प्रकृति का आठ गुना होता है और अन्य कर्मो का सख्यातगुण होता है।

इस सक्षिप्त कथन का विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

क्षपकश्रेणि मे सज्वलनक्रोध का अपने-अपने उदय के चरम समय मे दो मास का जघन्य स्थितिबध होता है। उपशमश्रेणि मे मन्द परिणाम होने से वही अपने उदय के चरम समय मे दुगुना यानि चार मास प्रमाण स्थितिबध होता है और उसी समय क्रोध की अनन्तरवर्ती प्रकृति जो मान है, उसके लिए विचार करे तो उसका चार गुणा यानि चार मास प्रमाण बध होता है और मान की अनन्तरवर्ती प्रकृति माया का आठ गुना बध होता है। इसका कारण यह है कि सज्वलनक्रोध के चरमोदय काल मे क्रोधादि चारो का चार मास का जघन्य स्थितिबध होता है। वह चार मास प्रमाण बध क्षपकश्रेणि मे क्रोध, मान और माया के बधविच्छेदकाल मे होने वाले बध से दुगुना, चार गुना और आठ गुना है।

यहाँ क्षपकश्रेणि मे क्रोध, मान और माया का अपने-अपने अन्तिम उदय समय मे जो जघन्य स्थितिबध होता है, उससे उपशमश्रेणि में क्रोध के चरमोदय काल मे क्रोधादि तीन का बध कितना गुणा होता है, यह बताया है।

इसी प्रकार मान के चरमोदय काल मे मान, माया का कितना गुणा बध होता है, यह बताया है। जैसे कि क्षपकश्रेणि मे अपने-अपने चरमोदय समय मे क्रोध का दो मास, मान का एक मास और माया का पन्द्रह दिवस का स्थितिबध होता है। उपशमश्रेणि मे क्रोध के चरमोदय काल मे क्रोध, मान और माया प्रत्येक का चार मास का जघन्य स्थितिबध होता है। जिसमे क्रोध का दुगुना, मान का चार गुणा और माया का आठ गुणा घटित हो सकता है। इसी प्रकार मान के चरमोदय काल मे मान और माया का दो मास का जघन्य स्थिति-बध होता है, वह क्षपकश्रेणि के जघन्य स्थितिबध से दुगुना और चौगुना होता है। माया के चरमोदय काल मे उसका एक मास का जघन्य स्थितिबध होता है, वह क्षपकश्रेणि मे चरमोदय काल मे होने वाले जघन्य स्थितिबध से दुगुना है, तथा शेष ज्ञानावरणादि कर्मो का सर्वत्र सख्यात वर्ष प्रमाण स्थितिबध होता है, मात्र पूर्व-पूर्व स्थिति-बध से उत्तरोत्तर स्थितिबध हीन-हीन होता है।

इस प्रकार से क्रोध, मान, माया के स्थितिबध का स्पष्टीकरण करने के पश्चात् अब सज्वलन लोभ के सम्बन्ध मे विचार करते हैं।

सज्वलन लोभ की वक्तव्यता

लोभस्स उ पढमठिइ बिईयठिइओ उ कुणइ तिविभाग।
दासु दलणिक्खेवो तइयो पुण किट्टीवेयद्धा ॥७४॥

शब्दार्थ—**लोभस्स**—लोभ की, **उ**—और, **पढमठिइ**—प्रथमस्थिति, **बिईयठिइओ**—द्वितीयस्थिति मे, **उ**—और, **कुणइ**—करता है, **तिविभाग**—तीन विभाग **दोसु**—दो मे, **दलणिक्खेवो**—दलिकनिक्षेप, **तइयो**—तीसरा, **पुण**—पुन, **किट्टीवेयद्धा**—किट्टिवेदनाद्धा—किट्टीवेदन काल।

गाथार्थ—(माया का उदयविच्छेद होने के बाद) लोभ की द्वितीयस्थिति मे से तीन भाग वाली प्रथमस्थिति करता है।

आदि के दो भागो मे दलिक निक्षेप करता है और तीसरा भाग किट्टिवेदनाद्धा—किट्टिवेदन का काल है ।

विशेषार्थ—माया के उदयविच्छेद के बाद के समय से लेकर लोभ का उदय होता है । उस लोभ की दूसरी स्थिति मे से दलिको को उतारकर उनकी प्रथमस्थिति करता है और लोभ की प्रथमस्थिति के तीन भाग करता है—१ अश्वकर्णकरणाद्धा, २ किट्टिकरणाद्धा और, ३ किट्टिवेदनाद्धा ।

प्रवर्धमान रसाणु वाली वर्गणाओ का क्रम खण्डित किये सिवाय अत्यन्त हीन रस वाले स्पर्धक करना उन्हे अपूर्वस्पर्धक कहते है । उन अपूर्वस्पर्धको को करने का काल अश्वकर्णकरणाद्धा कहलाता है ।

उनका इतना अधिक रस न्यून कर देना कि जिसके कारण प्रवर्धमान रस वाली वर्गणाओ का क्रम टूट जाये, उसे किट्टि कहते है और जिस काल मे किट्टिया हो, वह किट्टिकरणाद्धा कहलाता है ।

नौवे गुणस्थान मे की हुई उन किट्टियो के अनुभव काल को किट्टिवेदनाद्धा कहते है ।

जिस समय लोभ का उदय होता है, उस समय से नौवे गुणस्थान का जितना काल बाकी है, उसके दो भाग होते है । उनमे के प्रथमभाग मे अपूर्वस्पर्धक होते है और द्वितीयभाग मे किट्टियाँ होती है और सूक्ष्मसपरायगुणस्थान मे किट्टिकरणाद्धा मे की हुई किट्टियो का वेदन—अनुभव करता है । नौवे गुणस्थान मे जिस समय से लोभ का उदय होता है, उस समय से लेकर उसका जितना काल शेप है, उससे उसकी प्रथमस्थिति एक आवलिका अधिक करता है । आवलिका अधिक कहने का कारण नौवे गुणस्थान के चरम समय पर्यन्त तो लोभ के रसोदय का अनुभव करता है, लेकिन उसकी प्रथमस्थिति की एक आवलिका बाकी रहती है और नौवे गुणस्थान को पूर्णकर दसवे गुणस्थान मे जाता है । वहाँ अवशिष्ट उस आवलिका को स्तिवुकसक्रम द्वारा

सूक्ष्मकिट्टियो मे सक्रमित करके अनुभव करता है। इसीलिए एक आवलिका अधिक करना कहा है।

अश्वकर्णकरणाद्धा के प्रथम समय से अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और सज्वलन लोभ, इस तरह तीनो लोभो को एक साथ उपशमित करना प्रारम्भ करता है तथा उस अश्वकर्णकरणाद्धा के काल मे अन्य जो कुछ करता है अब उसका निर्देश करते हैं।

अश्वकर्णकरणाद्धा मे करणीय

संताणि बज्झमाणग सरूवओ फड्डगाणि ज कुणइ ।
सा अस्सकण्णकरणद्धा मज्झिमा किट्टिकरणद्धा ॥७५॥

शब्दार्थ—सताणि—सत्तागत, बज्झमाणग—बध्यमान, सरूवओ—स्वरूप से, फड्डगाणि—स्पर्धक, ज—जो, कुणइ—करता है, सा—वह, अस्सकण्णकरणद्धा—अश्वकर्णकरणाद्धा, मज्झिमा—मध्यम, किट्टिकरणद्धा—किट्टिकरणाद्धा।

गाथार्थ—लोभ के सत्तागत स्पर्धको को तत्काल बध्यमान स्पर्धक स्वरूप से जो करता है, वह अश्वकर्णकरणाद्धा है। उसके बाद किट्टिकरणाद्धा होता है।

विशेषार्थ—माया के जो दलिक सज्वलनलोभ मे सक्रमित हुए है और पूर्व मे जो सज्वलनलोभ के दलिक बधे हुए सत्तागत है, उनको तत्काल बध्यमान सज्वलनलोभ रूप मे यानि तत्काल बधते हुए सज्वलन लोभ की तरह अत्यन्त नीरस जिसमे किया जाता है वह अश्वकर्णकरणाद्धा है।

इसका विशेष विचार इस प्रकार है—अश्वकर्णकरणाद्धा के काल मे वर्तमान माया के जो दलिक सज्वलन लोभ मे सक्रमित हुए हैं तथा पूर्व मे बधे हुए लोभ के जो दलिक सत्ता मे हैं, उनको प्रति समय ग्रहण करके तत्काल बधते हुए सज्वलनलोभ के जैसे अत्यन्त हीन रसवाला करता है, किन्तु प्रवर्धमान रसाणुओ के क्रम को तोडता नही

है। ससार मे परिभ्रमण करते इससे पहले किसी भी काल मे बधा-श्रयी ऐसे हीन रस वाले स्पर्धक नही बाधे थे, परन्तु विशुद्धि के कारण अभी ही सत्ता मे इतने अधिक हीन रस वाला करता है।

इस प्रकार प्रति समय अपूर्व स्पर्धक करते सख्याता स्थितिबध जाये तब अश्वकर्णकरणाद्धा पूर्ण होता है। तत्पश्चात् किट्टिकरणाद्धा मे प्रवेश करता है। उस समय संज्वलनलोभ का स्थितिबध दिवस-पृथक्त्व होता है और शेष कर्मो का वर्षपृथक्त्व प्रमाण होता है। किट्टि-करणाद्धा के काल मे पूर्वस्पर्धक और अपूर्वस्पर्धको मे से दलिको को ग्रहण करके समय-समय (प्रतिसमय) अनन्त-अनन्त किट्टिया करता है।

यहाँ अपूर्वस्पर्धक और पूर्वस्पर्धक इन दोनो को कहने का तात्पर्य यह है कि अपूर्वस्पर्धक के काल मे जितने स्पर्धक तत्काल बधते सज्वलनलोभ के जैसे अल्परस वाले किये है, तथा उस काल मे जिन स्पर्धको के अपूर्वस्पर्धक नही किये है, उन दोनो को ग्रहण करके किट्टिया करता है। अपूर्वस्पर्धककाल मे सत्तागत सभी स्पर्धक अपूर्व नही होते है, कितनेक होते है और कितनेक वैसे ही रहते है।

अब किट्टियो के स्वरूप और प्रथम समय मे कितनी किट्टिया करता है ? यह स्पष्ट करते है।

किट्टियो का स्वरूप

अप्पुव्वविसोहीए अणुभागोणूण विभयण किट्टि।
पढमसमयंमि रसफड्डगवग्गणाणतभाग समा ॥७९॥

शब्दार्थ—अप्पुव्वविसोहीए—अपूर्व विशुद्धि द्वारा, अणुभागोणूण—अनुभाग (रस) को न्यून करना, विभयण—खडित करके, किट्टि—किट्टि, पढम-समयंमि—प्रथम समय मे, रसफड्डगवग्गणाणतभाग समा—रसस्पर्धकगत वर्गणा के अनन्तवें भाग समान।

गाथार्थ—अपूर्वविशुद्धि द्वारा प्रवर्धमान रसाणु का क्रम खडित कर अत्यन्त हीन रस करना किट्टि कहलाता है। प्रथ

समय मे रसस्पर्धकगत वर्गणा के अनन्तवे भाग समान किट्टिया होती हैं।

विशेषार्थ—पूर्वस्पर्धक और अपूर्वस्पर्धक मे से वर्गणाओ को ग्रहण करके अपूर्वविशुद्धि द्वारा अपूर्वस्पर्धक करते समय जो रस कम किया था, उससे भी अनन्तगुणहीन रस करके प्रवर्धमान रसाणु का क्रम खडित करना और वर्गणा-वर्गणा के वीच वडा अतर कर देना, किट्टि कहलाता है। जैसे कि जिस वर्गणा मे असत्कल्पना मे एक सौ एक, एक सौ दो, एक सौ तीन रसाणु थे, उनके रस को कम करके अनुक्रम से पाच, पन्द्रह, पच्चीस रसाणु रखना किट्टि कहलाता है। इस प्रकार से किट्टिया करते समय अपूर्वस्पर्धक के काल मे जो रस कम हुआ था, उससे भी अनन्तगुणहीन रस होता है और वर्गणा-वर्गणा के बीच एक बडा अतर पडता है। अपूर्वस्पर्धको मे एक रसाणु अधिक, दो रसाणु अधिक इस तरह प्रवर्धमान रसाणु वाली वर्गणाये मिल सकती है, जिससे पूर्व की तरह उनके स्पर्धक भी हो सकते हैं, किन्तु किट्टिया होती है तब वह क्रम नही रहता है। किट्टिकरणाद्धा के प्रथम समय मे अनन्ती किट्टिया करता है और वे किट्टिया एक स्पर्धक मे रही हुई अनन्ती वर्गणाओ के अनन्तवे भाग होती है और उनको सर्व-जघन्य रसस्पर्धक मे जितना रस है, उससे भी हीन रस वाला करता है।

अब इसी बात को विशेष रूप से स्पष्ट करते है—

सव्वजहन्नगफड्डगअणन्तगुणहाणिया उ ता रसओ।
पइसमयमसंखंसो आइमसमया उ जावन्तो ॥७७॥
अणुसमयमसखगुणं दलियमणन्तसओ उ अणुभागो।
सव्वेसु मन्दरसमाइयाण दलिय विसेसूणं ॥७८॥

शब्दार्थ—सव्वजहन्नगफड्डग—सर्वजघन्य रसस्पर्धक, अणन्तगुणहाणिया—अनन्तगुणहीन, उ—भी, ता—वे, रसओ—रस से, पइसमयमसखसो

—प्रति समय असख्यातवे भाग, आइमसमया—प्रथम समय से, उ—भी, जावन्तो—चरमसमय पर्यन्त।

असमयमसखगुण—प्रत्येक समय असख्यातगुण, दलिय—दलिक, अणन्तसओ—अनन्तवे भाग, उ—और, अणुभागो—अनुभाग (रस), सव्वेसु—सभी मे मन्दरसमाइयाण—मन्द रस वाली, दलिय—दलिक, विसेसूण—विशेषहीन।

गाथार्थ—वे किट्टियाँ रस की अपेक्षा सर्वजघन्य रसस्पर्धक से अनन्तगुणहीन रस वाली करता है। पहले समय मे प्रत्येक समय मे असख्यातवे भाग प्रमाण किट्टियाँ होती है, इस तरह किट्टिकरणाद्धा के चरम समय पर्यन्त करता है।

प्रत्येक समय दलिक असख्यातगुण होते है और रस अनन्तवे भाग होता है। सभी समयो मे मन्दरस वाली किट्टियो मे दलिक विशेष और उससे अधिक रस वाली में अल्प, इस तरह अधिक-अधिक रस वाली किट्टियो मे दलिक विशेष हीन-हीन होते है। इसी तरह प्रत्येक समय हुई किट्टियो मे समझना चाहिए।

विशेषार्थ—सत्ता मे हीनातिहीन रस वाला जो रसस्पर्धक है उससे भी रस की अपेक्षा उन किट्टियो को अनन्तगुण हीन रस वाली करता है। अर्थात् सत्ता मे रहे हुए अल्पातिअल्प रस वाले स्पर्धक मे जो रस है, उसमे भी किट्टियो मे अनन्तवे भाग प्रमाण रस रखता है। वे किट्टिया किट्टिकरणाद्धा के प्रथम समय से आरम्भ कर पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर समय मे असख्यातवे-असख्यातवे भाग करता है। जिसमे किट्टिकरणाद्धा के प्रथम समय मे एक रसस्पर्धक मे जितनी वर्गणाय होती हैं, उनके अनन्तवे भाग प्रमाण किट्टिया करता है। दूसरे समय मे उसमे असख्यातगुणहीन, उससे तीसरे समय मे असख्यातगुणहीन किट्टिया करता है। इस प्रकार किट्टिकरणाद्धा के चरमसमयपर्यन्त किट्टिया करता है। इसका तात्पर्य यह है कि पहले समय मे अधिक किट्टिया करता है और

उत्तरोत्तर समय मे पूर्व-पूर्व की अपेक्षा असख्यातवे-असख्यातवे भाग प्रमाण किट्टिया करता है। तथा—

प्रत्येक समय जो किट्टिया होती है, उनके दलिको का प्रमाण पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर समय मे असख्यातगुण-असख्यातगुण होता है। अर्थात् पहले समय मे जो किट्टिया होती है, उन सब किट्टियो का दलिक दूसरे समय की किट्टियो की अपेक्षा अल्प होता है। उसमे दूसरे समय मे हुई सभी किट्टियो का दलिक असख्यातगुण, उससे तीसरे समय मे की गई सभी किट्टियो का दलिक असंख्यातगुण होता है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर समय मे असख्यातगुण दलिक किट्टिकरणाद्धा के चरम समय पर्यन्त होते है और रस की अपेक्षा विचार करे तो वह अनन्तवे भाग मात्र होता है। पहले समय मे की गई सभी किट्टियो मे रस अधिक होता है, उससे दूसरे समय मे की गई सभी किट्टियो मे अनन्तगुणहीन रस होता है, इस तरह किट्टि-करणाद्धा के चरमसमय पर्यन्त पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर समय मे की गई किट्टियो मे अनन्तगुणहीन रस होता है।

इसका कारण यह है कि उत्तरोत्तर समय मे परिणामो की निर्मलता होने से रस अल्प-अल्प होता जाता है और तथास्वभाव से अल्प रस वाले दलिक अधिक और अधिक रस वाले दलिक अल्प होते हैं। जिसमे पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर समय के दलिको का प्रमाण अधिक बताया है।

यहाँ तक तो पूर्व पूर्व समय की किट्टियो के दलिको और रस की अपेक्षा उत्तरोत्तर समय की किट्टियो के दलिको और रस का प्रमाण बतलाया। अब प्रत्येक समय होने वाली किट्टियो के दलिको का एक दूसरे की अपेक्षा प्रमाण निर्देश करते है—

प्रत्येक समय मे जो किट्टिया होती हैं, उनमे से जघन्यरस वाली किट्टि पहली, उससे अनन्तगुणरस वाली दूसरी, उससे अनन्तगुण-

रस वाली किट्टि अनन्तगुणहीन-अनन्तगुणहीन रस वाली जानना चाहिए।

अब प्रदेश का अल्पबहुत्व बतलाते है—पहले समय मे की गई किट्टियो मे जो बहुत प्रदेश वाली किट्टि है, वह दूसरे समय की गई किट्टियो मे की सर्वाल्प प्रदेश वाली किट्टि की अपेक्षा अल्पप्रदेश वाली है, उससे दूसरे समय की गई किट्टियो मे की जो सर्वाल्पप्रदेश वाली किट्टि है, वह असख्यातगुण प्रदेश वाली है, उससे तीसरे समय की गई किट्टियो मे की जो सर्वाल्पप्रदेश वाली किट्टि है, वह असख्यातगुण प्रदेश वाली है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व से उत्तरोत्तर असख्य-असख्य-गुण चरमसमयपर्यन्त कहना चाहिये। तात्पर्य यह है कि अधिक-अधिक रस वाली किट्टिया अल्प-अल्प प्रदेश वाली होती है और अल्प-अल्प रस वाली किट्टिया अधिक-अधिक प्रदेश वाली होती है।

किट्टिकरणद्धाए तिसु आवलियासु समयहीणासु।
न पडिग्गहया दोण्हवि सट्ठाणे उवसमिज्जति ॥८०॥

शब्दार्थ—किट्टिकरणद्धाए—किट्टिकरणाद्धा की, तिसु—तीन, आवलियासु—आवलिका समयहीणासु—समयहीन, न—नही पडिग्गहया—पतद्ग्रहता, दोण्हवि—दोनो ही, सट्ठाणे—स्वस्थान मे, उवसमिज्जति—उपशमित होते है।

गाथार्थ—किट्टिकरणाद्धा की समयन्यून तीन आवलिका शेष रहने पर सज्वलन लोभ पतद्ग्रह नही रहता है, अतएव उसके बाद दोनो लोभ स्वस्थान मे उपशमित होते है।

विशेषार्थ—किट्टिकरणाद्धा का समय न्यून तीन आवलिका बाकी रहे तब (और नौवे गुणस्थान की समयन्यून दो आवलिका बाकी रहे तब) सज्वलनलोभ की पतद्ग्रहता नष्ट होती है, जिससे अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण लोभ के दलिक सज्वलन लोभ मे सक्रमित नही होते है, किन्तु अन्य स्वरूप मे हुए बिना अपने अपने स्थान मे ही

यानि अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण के स्वरूप मे ही शान्त होते हैं—उपशमित होते है । किट्टिकरणाद्धा की दो आवलिका (और नौवें गुणस्थान की एक आवलिका) बाकी रहे तब बादर सज्वलन-लोभ का आगाल होना बन्द हो जाता है, मात्र उदीरणा ही होती है और वह उदीरणा भी एक आवलिका पर्यन्त होती है ।

किट्टिकरणाद्धा के सख्याता भाग जाये तब सज्वलनलोभ का स्थितिबध अन्तर्मुहूर्त प्रमाण तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अत-राय इन तीन कर्म का दिवसपृथक्त्वप्रमाण तथा नाम, गोत्र और वेद-नीय का बहुत से हजार वर्ष का स्थितिबध होता है । उसके बाद किट्टिकरणाद्धा के चरम समय मे सज्वलनलोभ का स्थितिबध अन्तर्मुहूर्त का होता है । किन्तु किट्टिकरणाद्धा के सख्याता भाग जाने पर सज्वलनलोभ का जो अन्तर्मुहूर्त बध हुआ था उससे यह अन्तर्मुहूर्त छोटा समझना चाहिए । ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का एक रात्रि-दिवस और नाम, गोत्र, वेदनीय का कुछ कम दो वर्ष प्रमाण स्थितिबध होता है । आगालविच्छेद होने के बाद जो एक उदीरणा-वलिका रहती है, उसका जो चरम समय, वही किट्टिकरणाद्धा का तथा नौवें गुणस्थान का चरम समय है ।

अब किट्टिकरणाद्धा के चरम समय मे होने वाले कार्य का निर्देश करते है ।

किट्टिकरणाद्धा के चरम समय मे सम्भव कार्य

लोहस्स अणुवसंत किट्टी उदयावली य पुव्वुत्त ।
बायरगुणेण समग दोण्णिवि लोभा समुवसन्ता ॥८१॥

शब्दार्थ—**लोहस्स**—लोभ का, **अणुवसत**—अनुपशात, **किट्टी**—किट्टिया, **उदयावली**—उदयावलिका, **य**—और, **पुव्वुत्त**—पूर्वोक्त (समय न्यून दो आवलिका काल मे बधा हुआ दलिक) **बायरगुणेण**—बादर सपराय-

गुणस्थान के, **समग**—साथ, **दोण्णिवि**—दोनो ही, **लोभा**—लोभ, **समुवसन्ता**—उपशात होते है।

गाथार्थ—उस समय किट्टिया, उदयावलिका और समय न्यून दो आवलिका काल मे बधा हुआ दलिक ही अनुपशात है। बादरसपरायगुणस्थान के साथ दोनो लोभ शात होते है।

विशेषार्थ—किट्टिकरणाद्धा के चरम समय मे किट्टिकरणाद्धा काल मे की गई द्वितीयस्थिति मे रही हुई किट्टिया, समयन्यून दो आवलिका काल मे बधा हुआ दलिक और उदयावलिका इतना ही सज्वलन लोभ अनुपशमित बाकी रहता है, शेष सब शात होता है[1] तथा उसी चरम समय मे अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण लोभ सपूर्ण शात होता है तथा अनिवृत्तिबादरसपरायगुणस्थान भी पूर्ण होता है एव बादर सज्वलनलोभ के उदय उदीरणा का विच्छेद होता है और दसवे गुणस्थान मे प्रवेश करता है। तथा—

सेसद्ध तणुरागो तावइया किट्टिओ उ पढमठिई।
वज्जिय असखभाग हिट्ठुवरिमुदीरए सेसा ॥८२॥

शब्दार्थ—**सेसद्ध**—शेष काल मे, (किट्टिवेदनाद्धा काल मे), **तणुरागो**—सूक्ष्मसपरायगुणस्थान, **तावइया**—उतना ही, **किट्टिओ**—किट्टियो की, **उ**—और, **पढमठिई**—प्रथम स्थिति, **वज्जिय**—छोडकर, **असखभाग**—असख्यातवे भाग, **हिट्ठुवरि**—नीचे-ऊपर की, **उदीरए**—उदीरणा, **सेसा**—शेष की।

---

१ अवशिष्ट उस उदयावलिका को दसवें गुणस्थान मे सूक्ष्मकिट्टियो मे स्तिवुकसक्रम द्वारा सक्रमित कर अनुभव करता हैं, समयन्यून दो आवलिका काल मे बधा हुआ दलिक उतने ही काल मे शात होता है और किट्टियो मे कितनी ही किट्टियो को भोगकर क्षय करता है, कितनी ही को शात करता है।

गाथार्थ—शेष काल मे (किट्टिवेदनाद्धा काल मे) सूक्ष्मसपरायगुणस्थान होता है। सूक्ष्म किट्टियो की उतनी ही (दसवे गुणस्थान के काल जितनी) प्रथमस्थिति करता है तथा चरमसमय मे की गई किट्टियो का नीचे का असख्यातवाँ भाग और प्रथम समय मे की गई किट्टियो का ऊपर का असख्यातवाँ भाग छोडकर शेष किट्टियो की उदीरणा करता है।

विशेषार्थ—लोभ की प्रथमस्थिति को अश्वकर्णकरणाद्धा, किट्टिकरणाद्धा और किट्टिवेदनाद्धा इस प्रकार तीन भागो मे विभाजित करता है। उनमे के प्रथम दो भागप्रमाण प्रथमस्थिति का अनुभव नौवे गुणस्थान मे करता है। उन दो भाग जितने काल मे अपूर्वस्पर्धक और किट्टिया होती हैं और तीसरे किट्टिवेदनाद्धा विभाग मे किट्टिकरणाद्धाकाल मे की गई किट्टियो का वेदन करता है और उस समय सूक्ष्मसपरायगुणस्थान होता है। इस गुणस्थान मे द्वितीयस्थिति मे रही हुई किट्टियो मे की कितनी ही किट्टियो को खीचकर उनकी अपने काल प्रमाण प्रथमस्थिति करता है। किट्टिकरणाद्धा काल की शेष रही उदयावलिका को स्तिबुकसक्रम द्वारा सक्रमित कर अनुभव करता है। दो समय न्यून दो आवलिका काल का बधा हुआ दलिक जो अनुशमित शेष है, उसको इस गुणस्थान मे उतने ही काल मे उपशमित करता है।

सूक्ष्मसपरायगुणस्थान के प्रथम समय मे जो किट्टिया उदय मे आती है उनमे की पहले और अन्तिम समय मे की गई किट्टियो को छोडकर प्राय[1] उदय मे आती है। प्रथमस्थिति मे इस प्रकार से

---

१ यहाँ प्राय शब्द देने का कारण यह प्रतीत होता है कि पहले समय मे की गई किट्टियो का ऊपर का असख्यातवाँ भाग यानि उत्कृष्ट रस वाली किट्टियो को छोडकर और अन्तिम समय मे की गई किट्टियो का नीचे का असख्यातवाँ भाग यानि मन्दरस वाली किट्टियो को छोडकर शेष को उदीरणा द्वारा खीचकर अनुभव करता है। अर्थात् उदय द्वारा नही परन्तु उदीरणा द्वारा पहले और अन्तिम समय की किट्टिया उदय मे आती हैं।

स्थापित करता है कि पहले समय मे जो किट्टिया उदय मे आये वे किट्टिकरणाद्धा काल मे के पहले और अन्तिम समय मे की गई किट्टिया न हो तथा चरम समय मे की गई किट्टियो का निचला असख्यातवा भाग और पहले समय की गई किट्टियो के ऊपर का असख्यातवा भाग छोडकर शेष किट्टियो की उदीरणा करता है। पहले और अन्तिम समय की किट्टिया सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान के प्रथम समय मे उदय को प्राप्त नही होती है किन्तु इस प्रकार से उदीरणा द्वारा उदय को प्राप्त होती है। तथा—

गेण्हन्तो य मुयन्तो असखभाग तु चरिमसमयंमि ।
उवसामिय बीयठिइं उवसतं लभइ गुणठाणं ॥८३॥

शब्दार्थ—**गेण्हन्तो**—ग्रहण करता **य**—और, **मुयन्तो**—छोडता हुआ, **असखभाग**—असख्यातवे भाग को, **तु**—और, **चरिमसमयंमि**—चरमसमय मे, **उवसामिय**—उपशमित करता है **बीयठिइ**—द्वितीयस्थिति को, **उवसत**—उपशान्तमोह, **लभइ**—प्राप्त करता है, **गुणठाण**—गुणस्थान ।

गाथार्थ—असख्यातवे भाग को ग्रहण करता और छोडता हुआ चरमसमय पर्यन्त जाता है। चरम समय मे द्वितीय स्थिति को उपशमित करके उपशान्तमोहगुणस्थान प्राप्त करता है।

विशेषार्थ—सूक्ष्मसपरायगुणस्थान के दूसरे समय मे उदय-प्राप्त किट्टियो के असख्यातवे भाग को छोडता है। क्योकि उसकी किट्टिया उपशान्त हो जाती है,[1] जिससे उदय मे नही आती है और

---

१ यहाँ उदयप्राप्त किट्टियो के असख्यातवे भाग को उपशमित करता है, यह सकेत किया है। परन्तु प्रश्न है कि उदयप्राप्त किट्टिया कैसे उपशमित हो ? क्योकि उदयप्राप्त किट्टिया तो प्रथम समय की किट्टिया है। प्रथमस्थिति को तो उदय-उदीरणा द्वारा भोगता है यह बताया है तो यहाँ उपशम हो यह कैसे सम्भव है ?

(शेष फुटनोट अगले पृष्ठ पर)

उसके साथ भोगने के लिये अपूर्व असख्यातवे भाग को उदीरणाकरण द्वारा ग्रहण करता है। यानि दूसरे समय मे उदयप्राप्त जितनी किट्टिया होती है, उनके असख्यातवे भाग को उपशमित कर डालता है, जिससे उतनी किट्टियो का फलानुभव नही करता, परन्तु शेष किट्टियो का फलानुभव करता है।

इस प्रकार प्रत्येक समय उदयप्राप्त किट्टियो के असंख्यातवे भाग को छोडता और अपूर्व असख्यातवे भाग को भोगने के लिए उदीरणा-करण द्वारा ग्रहण करता सूक्ष्मसपरायगुणस्थान के चरम समय पर्यन्त जाता है तथा द्वितीयस्थिति मे रहे हुए अनुपशान्त समस्त दलिको को

(पृष्ठ १११ का शेष फुटनोट)

इसके उत्तर मे यह सम्भावना हो सकती है कि दसवें गुणस्थान की विशुद्धि के माहात्म्य से प्रथमस्थिति की उदयप्राप्त किट्टियो के असख्यातवें भाग को भी द्वितीयस्थितिगत किट्टियो के साथ उपशमित करता है। जैसे समुद्घात के माहात्म्य से पुण्य प्रकृति के रस को पाप रूप करके भोगता है। अथवा जो दसवें गुणस्थान के कालप्रमाण प्रथम-स्थिति की, उसे तो भोगकर क्षय करता है परन्तु सूक्ष्मसपरायगुणस्थान मे उदय आने योग्य जो किट्टियाँ दूसरी स्थिति मे रही हुई हैं, उनके असख्यातवें भाग को उपशमाता और अपूर्व असख्यातवें भाग को उदीरणा-करण द्वारा ग्रहण कर अनुभव करता है। इस प्रकार प्रति समय करते हुए दसवें गुणस्थान के चरमसमय तक जाता है। यहाँ चरम समय तक उदीरणाकरण द्वारा किट्टियो को ग्रहण करना कहा है, परन्तु प्रथम-स्थिति की एक आवलिका बाकी रहे और उदीरणा नही होती यह नही कहा है, जिससे ऐसा मालूम होता है कि किट्टिकरणाद्धा काल मे दसवें गुणस्थान मे अनुभव करने योग्य जो किट्टियाँ की हैं उनमे से ऊपर कहे अनुसार उपशमाना, उनको उदीरणाकरण द्वारा खीचकर अनुभव करना, इस प्रकार क्रिया करता चरम समय पर्यन्त जाता है। तत्व केवलीगम्य है।

भी सूक्ष्मसपरायगुणस्थान के प्रथमसमय से लेकर चरमसमय पर्यन्त पूर्व पूर्व समय से उत्तर-उत्तर समय मे असख्य-असख्यगुण उपशमित करता है तथा नौवे गुणस्थान के चरमसमय मे समयन्यून दो आवलिका काल मे बधा हुआ दलिक जो अनुपशान्त था, उसे भी उस समय से लेकर उतने ही काल मे दसवे गुणस्थान मे उपशमित करता है।

सूक्ष्मसपरायगुणस्थान के चरमसमय मे ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का अन्तर्मुहूर्त का, नाम और गोत्र कर्म का सोलह मुहूर्त का और वेदनीय का चौबीस मुहूर्त का स्थितिबध होता है। उसी चरमसमय मे द्वितीयस्थितिगत मोहनीयकर्म का समस्त दलिक पूर्णतया उपशमित हो जाता है और आगे के समय मे उपशान्तमोहगुणस्थान प्राप्त करता है। इस गुणस्थान मे मोहनीय की अट्ठाईस प्रकृतिया सर्वथा शान्त होती है। उपशम का काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है और यही उपशान्तमोहगुणस्थान है।

उपशान्तमोहगुणस्थान का स्वरूप

अन्तोमुहुत्तमेत्त तस्सवि सखेज्जभागतुल्लाओ।
गुणसेढी सव्वद्ध तुल्ला य पएसकालेहि ॥८४॥

शब्दार्थ—अन्तोमुहुत्तमेत्त—अन्तर्मुहूर्त मात्र, तस्सवि—उसके भी, सखेज्जभाग तुल्लाओ—सख्यातवें भाग के बराबर, गुणसेढी—गुणश्रेणि, सव्वद्ध—सम्पूर्ण काल, तुल्ला—बराबर, य—और, पएसकालेहि—प्रदेश और काल से।

गाथार्थ—यह गुणस्थान अन्तर्मुहूर्त मात्र रहता है। उसके भी सख्यातवे भाग प्रमाण गुणश्रेणि होती है और वह उसके सम्पूर्ण कालपर्यन्त काल एव प्रदेश से अवस्थित होती है।

विशेषार्थ—उपशान्तमोहगुणस्थान का काल अन्तर्मुहूर्त है। इस गुणस्थान मे मोहनीयकर्म के अलावा शेष कर्मो मे स्थितिघात, रसघात

और गुणश्रेणि ये तीन पदार्थ होते हैं। उनमे से गुणश्रेणि उपशात मोहगुणस्थान के काल के सख्यातवे भाग प्रमाण करता है, यानि उपशातमोहगुणस्थान के सख्यातवे भाग मे जितने समय होते है, उतने समयो मे गुणश्रेणि—दलरचना करता है और वह गुणश्रेणि प्रदेश एव काल से समान है।

इस गुणस्थान मे प्रत्येक समय के परिणाम एक सरीखे प्रति समय एक जैसे ही दलिक ऊपर की स्थिति मे से उतरते है और सदृश ही रचना होती है। यानि उपशातमोहगुणस्थान के पहले समय मे जितने दलिक ऊपर से उतारे और प्रथमसमय से उस गुणस्थान के सख्यातवें भाग के समयो मे जिस प्रकार से स्थापित किये, उतने ही दलिक दूसरे समय मे उतारता है और उस (दूसरे) समय से उस गुणस्थान के सख्यातवे भाग मे जितने समय होते है, उतने मे ही उसी प्रकार से स्थापित करता है। इसी प्रकार चरमसमय पर्यन्त जानना चाहिए।

पूर्व-पूर्व समय जैसे जैसे कम होता जाता है, वैसे-वैसे ऊपर का एक-एक समय मिलता जाने से उपशातमोहगुणस्थान के सख्यातवे भाग के समय प्रमाण दलरचना का काल कायम रहता है। इसी कारण कहा है कि इस गुणस्थान मे काल और प्रदेश की अपेक्षा गुणश्रेणि सरीखी करता है तथा स्थितिघात, रसघात पूर्व की तरह होता है किन्तु पतद्ग्रह के अभाव मे गुणसक्रम नही होता है। तथा—

करणाय नोवसंत संकमणोवट्टणं तु दिट्ठितिग।
मोत्तुण विलोमेणं परिवडई जा पमत्तोति ॥८५॥

शब्दार्थ—**करणाय**—करण के योग्य, **नोवसत**—उपशमित दलिक नही होता, **सकमणोवट्टण**—सक्रमण और अपवर्तना, **तु**—किन्तु, **दिट्ठतिग**—दृष्टित्रिक को, **मोत्तुण**—छोडकर, **विलोमेण**—विलोमक्रम से, **परिवडई**—गिरता है, **जा**—यावत्, **पमत्तोत्ति**—प्रमत्तसयतगुणस्थान तक।

गाथार्थ—दृष्टित्रिक को छोडकर उपशमित दलिक करण के

योग्य नही होता है। दृष्टित्रिक मे सक्रमण और अपवर्तना होती है। (इस गुणस्थान का काल पूर्ण होने पर) विलोमक्रम से यावत् प्रमत्तसयतगुणस्थात तक गिरता है।

विशेषार्थ—इस गुणस्थान मे मोहनीयकर्म की एक-एक (प्रत्येक) प्रकृति उपशमित है, जिससे उसमे किसी भी करण की योग्यता नही रहती है। अर्थात् उन प्रकृतियो मे सक्रमण, उद्वर्तना, अपवर्तना, निधत्ति, निकाचना और उदीरणा करण प्रवर्तित नही होते एव उनका उदय भी नही होता है। मात्र सम्यक्त्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय और मिथ्यात्वमोहनीय को छोडकर। क्योकि उन तीन मे अपवर्तना और सक्रम होता है। सक्रम तो मिथ्यात्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय मे होता है और अपवर्तना तीनो मे होती है। इस प्रकार जिसने क्रोध के उदय से श्रेणि आरम्भ की हो उसकी अपेक्षा यह समझना चाहिये।

जब मान के उदय से श्रेणि प्राप्त करे तब मान का अनुभव करता हुआ नपुसकवेद मे कहे गये क्रम से तीनो क्रोध को उपशमित करता है। तत्पश्चात् क्रोध के उदय मे श्रेणि का आरम्भ करने वाले ने जिस क्रम से तीन क्रोध उपशमित किये थे, उसी क्रम से तीन मान को उपशमित करता है।

जब माया के उदय मे श्रेणिआरम्भ करे तब माया का वेदन करता पहले नपुसकवेद के क्रम से तीन क्रोध उसके बाद तीन मान उपशमित करता है और उसके बाद क्रोध के उदय मे श्रेणि आरम्भ करने वाला जिस क्रम से तीन क्रोध उपशमित करता है, उसी क्रम से तीन माया उपशमित करता है।

जब लोभ के उदय मे श्रेणि आरम्भ करे तब लोभ का वेदन करता हुआ पहले नपुसकवेद को शात करते जो क्रम कहा है, उसी क्रम से तीन क्रोध को, उसके बाद तीन मान को, तत्पश्चात तीन माया को उपशमित करता है और उसके बाद क्रोध के उदय मे श्रेणि

आरम्भ करने वाला जिस प्रकार से क्रोध को उपशमित करता है, उसी प्रकार से तीन लोभ को शात करता है।

यहाँ यह विशेष ज्ञातव्य है कि मान के उदय मे श्रेणि आरम्भ करने वाले के सज्वलनक्रोध का बधविच्छेद कहा होता है, यह नही बताया है, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि क्रोध के उदय मे श्रेणि आरम्भ करने वाले के जहा क्रोध का बधविच्छेद होता है, वही मान के उदय मे श्रेणि आरम्भ करने वाले को भी क्रोध का बधविच्छेदहोता है और क्रोध के उदयमे श्रेणि आरम्भ करने वाले को जैसे उसका बध-विच्छेदहोनेके बाद दो समयन्यून दो आवलिका मे बधा हुआ अनुपशमित शेष रहता है, वैसे ही मान के उदय मे श्रेणि आरम्भ करने वाले के भी क्रोध का बधविच्छेद होने के बाद दो समयन्यून आवलिका काल का बधा हुआ अनुपशात रहता है और उसे उतने ही काल मे मान को भोगता हुआ उपशमित करता है। इसी प्रकार माया के उदय मे श्रेणि आरम्भ करने वाले को क्रोध और मान के उदय के लिये समझना चाहिये। यानि माया के उदय मे श्रेणि माडने वाले के सज्वलन क्रोध का बधविच्छेद होने बाद जो समयन्यून दो आवलिका काल का बधा हुआ अनुपशात है उसे उतने ही काल मे मान को उपशात करते हुए साथ ही उपशमित करता है और मान का बध-विच्छेद होने के बाद जो दो समयन्यून दो आवलिका काल का बधा हुआ मान का दलिक अनुपशात है, उसे उतने ही काल मे माया को वेदन करते हुए उपशमित करता है। इसी प्रकार लोभ के उदय मे श्रेणि आरम्भ करने वाला क्रोध के अवशिष्ट को मान के साथ, मान के अवशिष्ट को माया के साथ उपशमित करता है और माया के अवशिष्ट को लोभ का वेदन करने के साथ उपशमित करता है। विद्वानो से विशेष स्पष्टीकरण की अपेक्षा है।

मोहनीय शात किया हुआ होने से इस गुणस्थान से आगे नही बढा जाता है, किन्तु यहाँ अन्तर्मुहूर्त रहकर अवश्य पतन होता है। पतन का क्रम इस प्रकार है—

उपशातमोहगुणस्थान से प्रतिपतन दो प्रकार से होता है—१ भवक्षय और २ अद्धाक्षय—गुणस्थान का काल पूर्ण होने से। भवक्षय से प्रतिपात मरने वाले का होता है। यदि उपशातमोहगुणस्थान मे किसी की आयु पूर्ण होती है तो वह मरकर सर्वार्थसिद्ध महाविमान मे उत्पन्न होता है। मनुष्यायु के चरमसमयपर्यन्त ग्यारहवा गुण-स्थान होता है, परन्तु देवायु के प्रथमसमय से ही चतुर्थ गुणस्थान प्राप्त होता है और उसे प्रथमसमय से ही एक साथ सभी करण प्रवर्तित होते है। उदीरणाकरण से जो दलिक खीचता है, उन्हे उदयावलिका मे क्रमबद्ध स्थापित करता है। जिन दलिको की उदीरणा नही करता परन्तु अपवर्तनाकरण से नीचे उतारता है, उनको उदयावलिका के बाहर गोपुच्छाकार से स्थापित करता है और जो अन्तरकरण था यानि शुद्ध भूमिका थी, उसे दलिको से भर देता है और उन दलिको का वेदन करता है। किन्तु जो उपशातमोहगुणस्थान का अन्तर्मुहूर्त काल पूर्ण कर पतन करता है, वह जिस क्रम से स्थितिघातादि करता हुआ चढता था, उसी क्रम से पश्चानुपूर्वी से स्थितिघातादि करता प्रमत्तसयत-गुणस्थान तक गिरता है।

यहा जो स्थितिघात आदि बतलाया है उसका आशय यह कि जैसे गुणस्थान पर प्रवर्धमान परिणाम की अत्यन्त विशुद्धि होने से अधिक-अधिक प्रमाण मे स्थिति और रस का घात करता था, अधिक-अधिक दलिक उतार कर उदयसमय से लेकर अधिक-अधिक यथाक्रम स्थापित करता था और नवीन स्थितिबध हीन-हीन करता जाता था। किन्तु अब गिरते समय परिणामो की मन्दता होने से अल्प प्रमाण मे स्थिति और रस का घात करता है, स्थितिबध बढाता जाता है और गुणश्रेणि विलोम करता है। अर्थात् निषेकरचना के अनुसार दलरचना करता है, जिससे उदयसमय मे अधिक, उसके बाद अल्प-अल्प, इस प्रकार दलरचना करता है। जिसकी विधि इस प्रकार है—

ओकड्ढित्ता दलिय पढमठिति कुणइ विइयठिइहिंतो ।
उदयाइ विसेसूण आवलिउप्पि असंखगुण ॥८६॥
जावइया गुणसेढी उदयवई तासु हीणग परओ ।
उदयावलीमकाउं गुणसेढि कुणइ इयराण ॥८७॥

शब्दार्थ—**ओकड्ढित्ता**—अपकर्षितकर—खीचकर, **दलिय**—दलिक, **पढमठिति**—प्रथमस्थिति, **कुणइ**—करता है, **विइयठिइहिंतो**—द्वितीयस्थिति मे मे, **उदयाइ**—उदयसमय से लेकर, **विसेसूण**—विशेष न्यून-न्यून, **आवलिउप्पि**—आवलिका के ऊपर, **असखगुण**—असख्यातगुण ।

जावइया—जितनी, **गुणसेढी**—गुणश्रेणि, **उदयवई**—उदयवती प्रकृतियो, **तासु**—उनमे, **हीणग**—हीन--न्यून-न्यून, **परओ**—वाद मे, **उदयावलीमकाउ**—उदयावलिका किये बिना, **गुणसेढि**—गुणश्रेणि, **कुणइ**—करता है, **इयराण**—इतर-अनुदयवती प्रकृतियो की ।

गाथार्थ—द्वितीयस्थिति मे से दलिक खीचकर प्रथमस्थिति करता है । उदयसमय से लेकर विशेष न्यून-न्यून और आवलिका के ऊपर असख्यातगुण स्थापित करता है ।

उदयवती प्रकृतियो मे गुणश्रेणि शीर्ष पर्यन्त गुणश्रेणि के क्रम से निक्षेप करता है । वाद के समयो मे न्यून-न्यून करता है । इतर-अनुदयवती प्रकृतियो मे उदयावलिका किये बिना ऊपर के समयो से गुणश्रेणिक्रम से गुणश्रेणि पर्यन्त दलरचना करता है ।

विशेषार्थ—उपशातमोहगुणस्थान से गुणस्थान का काल पूर्ण कर गिरते हुए सज्वलनलोभ आदि कर्मों का अनुभव करता है । ग्यारहवे से दसवे गुणस्थान मे आने पर पहले सज्वलनलोभ का अनुभव करता है उसके वाद नौवे गुणस्थान मे जहाँ माया का विच्छेद हुआ था, वहाँ से लेकर माया का, तत्पश्चात् जहाँ मान का उदयविच्छेद हुआ था, वहाँ

से लेकर मान का, उसके बाद जहाँ क्रोध का उदयविच्छेद हुआ था, वहाँ से लेकर क्रोध का अनुभव करता है।

इस प्रकार चढते हुए जिस समय जिसका उदयविच्छेद हुआ था, गिरते हुए वहाँ आने पर उसका उदय होता है। इस प्रकार मे क्रम-पूर्वक अनुभव करने के लिये द्वितीयस्थिति मे से उनके दलिक खीचकर प्रथमस्थिति करता है। खीचे गये दलिको को उदयसमयादि समयो मे विशेष न्यून-न्यून क्रम से स्थापित करता है। उदयसमय मे अधिक दलिक स्थापित करता है, द्वितीयसमय मे विशेष हीन, इस प्रकार उदयावलिका के चरमसमयपर्यन्त गोपुच्छाकार मे दलिक स्थापित करता है और उदयावलिका के ऊपर के समयो मे असख्यात-असख्यातगुण स्थापित करता है। उदयावलिका के ऊपर प्रथमसमय मे उदयावलिका के चरमसमय के दलिक निक्षेप की अपेक्षा असख्यात-गुण, उससे दूसरे समय मे असख्यातगुण, उससे तीसरे समय मे असख्यातगुण, इस प्रकार पूर्व पूर्व समय से उत्तरोत्तर समय मे असख्यात-असख्यातगुण दलिक उदयवती प्रकृतियो मे गुणश्रेणिशीर्षपर्यन्त स्थापित करता है—तत्पश्चात विशेषहीन-विशेषहीन स्थापित करता है।

उक्त कथन का साराश यह है कि तत्काल उदयवती प्रकृतियो की उदयावलिका मे गोपुच्छाकार रूप मे दलिकनिक्षेप करता है—स्थापित करता है और उदयावलिका के ऊपर के समय से लेकर गुणश्रेणि के शीर्षपर्यन्त तो गुणश्रेणि के क्रम से पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर असख्य-असख्यगुण दलिक और उसके बाद के समयो मे विशेषन्यून-विशेषन्यून दलिक निक्षेप करता है और तत्काल अनुदयवती जो प्रकृतिया है, उनकी उदयावलिका नही करता है—उदयावलिका मे दलिक स्थापित नही करता है, परन्तु उस एक आवलिका को छोडकर ऊपर के समय से लेकर गुणश्रेणि के शीर्षपर्यन्त पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर असख्य-असख्यगुण स्थापित करता है और उसके बाद अल्प-अल्प स्थापित करता है। तथा—

सकमउदीरणाण नत्थि विसेसो उ एत्थ पुव्वुत्तो ।
ज जत्थ उ विच्छिन्न जाय वा होइ त तत्थ ॥८८॥

शब्दार्थ—सकमउदीरणाण—सक्रम और उदीरणा के, **नत्थि**—नही है, **विसेसो**—विशेष, **उ**—किन्तु **एत्थ**—यहाँ, **पुव्वुत्तो**—पूर्व मे कहे, **ज**—जिसका, **जत्थ**—जहाँ **उ**—ही, **विच्छिन्न**—विच्छेद, **जाय**—हुआ था, **वा**—तथा, **होइ**—होता है, **त**—वह, **तत्थ**—वहाँ ।

गाथार्थ—पूर्व मे कहे गये सक्रम और उदीरणा के सम्बन्ध मे यहाँ विशेष नही है । जिसका जहाँ विच्छेद हुआ था तथा जो जहाँ होता था वहाँ वह होता है ।

विशेषार्थ—उपशमश्रेणि पर चढते सक्रम और उदीरणा के सम्बन्ध मे जो विशेष कहा था, कि क्रमपूर्वक सक्रम होता है किन्तु अनानुपूर्वी से—उत्क्रम मे सक्रम नही होता है, तथा अन्तरकरण के द्वितीयसमय से बधे हुए कर्म की छह आवलिका जाने के बाद उदीरणा होती है, छह आवलिका मे नही होती है ऐसा उदीरणा के सम्बन्ध मे विशेष कहा था, वह विशेष उपशमश्रेणि से गिरते नही रहता है । उपशम श्रेणी से गिरते तो क्रमउत्क्रम दोनो प्रकार से सक्रम होता है, तथा बधे हुए कर्म की बधावलिका पूर्ण होने के बाद भी उदीरणा होती है तथा श्रेणि पर चढते बधन, सक्रमण, अपवर्तना, उद्वर्तना, उदीरणा, देशोपशमना, निधत्ति, निकाचना और आगाल का जिस समय विच्छेद हुआ था, गिरते उस समय के प्राप्त होने पर वे सब होते है तथा चढते समय जिस स्थान पर स्थितिघात, रसघात आदि होते थे, गिरते समय वे उसी प्रकार विपरीत क्रम से होते हैं । तथा—

वेइज्जमाण सजलण कालाओ अहिगमोहगुणसेढी ।
पडिवत्तिकसाउदए तुल्ला सेसेहि कम्मेहि ॥८९॥

शब्दार्थ—वेइज्जमाण—वेद्यमान, **सजलण**—सज्वलन, **कालाओ**—

काल से, अहिग—अधिक, मोहगुणसेढी—मोहनीय की गुणश्रेणि, पडिवत्ति—प्राप्ति, कसाउदए—कषाय के उदय मे, तुल्ला—तुल्य, सेसेहि—शेष, कम्मेहि—कर्मो के।

गाथार्थ—मोहनीय की गुणश्रेणि वेद्यमान सज्वलन के काल से अधिक होती है। जिस-जिस कषाय के उदय मे श्रेणि की प्राप्ति होती है, उसकी गुणश्रेणि शेष कर्मों के तुल्य होती है।

विशेषार्थ—श्रेणि मे गिरते मोहनीय कर्म की प्रकृतियो की गुणश्रेणि काल की अपेक्षा वेद्यमान सज्वलन के काल से अधिक काल प्रमाण करता है। चढते समय की गई गुणश्रेणि के तुल्य करता है। अर्थात् श्रेणि पर चढते समय जितने स्थानो मे गुणश्रेणि के क्रम मे दलरचना हुई थी, गिरते समय भी उतने स्थानो मे दलरचना होती है तथा जिस कषाय के उदय मे उपशमश्रेणि पर आरूढ हुआ था—श्रेणि पर चढा था, गिरते उसका जब उदय हो तब उसकी गुणश्रेणि शेष कर्मो की गुणश्रेणि के तुल्य होती है। जैसे किसी ने सज्वलन क्रोध के उदय मे श्रेणि प्राप्त की तो श्रेणि से गिरते जब उसे सज्वलनक्रोध का उदय हो तब वहाँ से उसकी गुणश्रेणि शेष कर्मो के समान होती है। इसी प्रकार मान और माया के सम्बन्ध मे भी समझना चाहिये। परन्तु सज्वलनलोभ के उदय मे उपशमश्रेणि प्राप्त करने वाले के प्रतिपात काल मे गिरते ही प्रथमसमय मे सज्वलनलोभ की गुणश्रेणि शेष कर्मो की गुणश्रेणि के तुल्य होती है तथा शेष कर्मो के लिये तो जैसे चढते समय का कथन किया है, उसी प्रकार पडते भी हीनाधिकता रहित जानना चाहिये। तथा—

खवगुवसामगपच्चागयाण दुगुणो तहिं तहिं बधो।
अणुभागोऽणंतगुणो असुभाण सुभाण विवरीओ ॥९०॥

शब्दार्थ—खवगुवसामगपच्चागयाण—क्षपक, उपशमक और पतित उपशमक को, दुगुणो—दुगना, तहिं तहिं—वहां-वहां, बधो—बन्ध, अणुभागो-

ऽणतगुणो—अनुभाग अनन्त गुण, असुभाण—अशुभ प्रकृतियो का, सुभाण—शुभ प्रकृतियो का, विवरीओ—विपरीत (अनन्तगुणहीन)।

गाथार्थ—क्षपक, उपशमक और पतित उपशमक को वहाँ-वहाँ क्रमशः दुगुना स्थितिबध होता है और अशुभ प्रकृतियो का अनुभाग अनन्तगुणअधिकऔर शुभ प्रकृतियो का विपरीत (अनन्त-गुणहीन) बधता है।

विशेषार्थ—क्षपकश्रेणि[1] पर चढते क्षपक को जिस-जिस स्थान पर जितना-जितना स्थितिबध होता है, उससे भी उपशमश्रेणि पर चढते उपशमक को उसी स्थान पर दुगुना-दुगुना स्थितिबध होता है और उससे भी उपशमश्रेणि से गिरते हुए के उसी स्थान पर दुगना-दुगना बध होता है। अर्थात् क्षपक के बध की अपेक्षा चार गुना स्थिति-बध होता है। तथा—

क्षपक को जिस स्थान पर अशुभ प्रकृतियो का जितना रसवध होता है, उसकी अपेक्षा उसी स्थान पर उपशमक को अनन्तगुण अनुभाग—रसबध होता है। उससे भी उसी स्थान पर उपशमश्रेणि से गिरते हुए के अनन्तगुण रसबध होता है किन्तु शुभ प्रकृतियो का रसवध अशुभ प्रकृतियो के रसबध से विपरीत होता है। अर्थात् शुभ प्रकृतियो का क्षपक के जिस स्थान पर जितना रसबध होता है, उससे उपशमक को श्रेणि पर चढते उसी स्थान पर अनन्तगुणहीन रसवध होता है और उससे भी उपशमश्रेणि से गिरने वाले के उसी स्थान पर अनन्तगुणहीन रसबध होता है तथा—

परिवाडीए पडिउं पमत्तइयरत्तणे बहू किच्चा।
देसजई सम्मो वा सासणभाव वए कोई ॥९१॥

शब्दार्थ—परिवाडीए—क्रमपूर्वक, पडिउ—गिरकर, पमत्ताइयरत्तणे—प्रमत्त और इतर अप्रमत्तपने, बहू—अनेक वार, किच्चा—करके, देसजई—

---

१ क्षपकश्रेणि का स्वरूप छठे कर्मग्रन्थ (सप्ततिका) मे देखिये।

गाथार्थ—उपशमसम्यक्त्व के काल मे आयु क्षय होने पर अवश्य देव होता है। किन्तु जिसने तीन आयु मे से किसी एक आयु को बाधा हो वह श्रेणि पर आरोहण नही करता है।

विशेषार्थ—उपशमसम्यक्त्व के काल मे रहते जो कोई आयु पूर्ण हो जाने से काल करे तो अवश्य देव होता है। क्योकि नारक, तिर्यच और मनुष्य सम्बन्धी आयु का बध किया हो तो उपशमश्रेणि पर चढ नही सकता है, परन्तु वैमानिक देव सम्बन्धी आयु बाधी हो तभी उपशमश्रेणि पर चढ सकता है तथा उपशमसम्यक्त्व के काल मे मरण को प्राप्त हो तो देव ही होता है। तथा—

सेढिपडिओ तम्हा छडावलि सासणो वि देवेसु।
एगभवे दुक्खुत्तो चरित्तमोहं उवसमेज्जा ॥८३॥

शब्दार्थ—**सेढिपडिओ**—श्रेणि से पतित, **तम्हा**—उस कारण से, **छडावलि**—छह आवलिका, **सासणो**—सासादनगुणस्थान वाला, **वि**—भी, **देवेसु**—देव मे, **एगभवे**—एक भव से, **दुक्खुत्तो**—दो बार, **चरित्तमोह**—चारित्रमोह को, **उवसमेज्जा**—उपशमित कर सकता है।

गाथार्थ—उस कारण से श्रेणि से पतित जिसका छह आवलिका काल है वह सासादनगुणस्थान वाला भी मरण कर देव हो सकता है। एक भव मे दो बार चारित्रमोह को सर्वथा उपशमित कर सकता है।

विशेषार्थ—देवायु को छोडकर शेष तीन आयु मे से किसी भी आयु को बाधने के बाद उपशमश्रेणि पर चढ नही सकता है, इसलिए श्रेणि से गिरकर उत्कृष्ट छह आवलिका और जघन्य एक समय जितना जिसका काल है, उस सासादनगुणस्थान मे भी काल करे तो मरकर अवश्य देव होता है। तात्पर्य यह है कि आयु के बाधने के बाद यदि उपशमश्रेणि पर चढे तो वैमानिक देव की आयु बाधने के बाद

ही चढता है, परभवायु बाधे बिना भी उपशमश्रेणि पर चढ सकता है, वह अन्तरकरण पूर्ण होने के बाद आयु बाध सकता है। तथा—

एक भव मे अधिक-से-अधिक दो बार ही चारित्रमोहनीयकर्म को सर्वथा उपशमित करता है। जो जीव एक भव मे दो बार उपशम-श्रेणि माडता है, वह उस भव मे क्षपकश्रेणि नही माड सकता है, चारित्रमोहनीय की क्षपणा नही कर सकता हे। परन्तु जिसने एक जन्म मे एक बार चारित्रमोहनीय की उपशमना की हो, उसको उस भव मे क्षपकश्रेणि हो भी सकती है—कदाचित् चारित्रमोहनीय की क्षपणा हो भी सकती हे। परन्तु इसमे यह आशय ग्रहण नही करना चाहिये कि चारित्रमोहनीय की क्षपणा करने से पहले चारित्र-मोहनीय की उपशमना जरूरी है। चारित्रमोहनीय की उपशमना किये बिना भी चारित्रमोहनीय की क्षपणा कर सकता है तथा एक जन्म मे उपशम और क्षपक इस तरह दोनो श्रेणिया चढ सकता है। यह कार्मग्रन्थिक अभिप्राय है। किन्तु आगमिक अभिप्रायानुसार तो एक भव मे उपशम और क्षपक इन दोनो मे से एक ही श्रेणि पर चढ सकता है। कहा भी है—

अन्नयरसेढिवज्ज एगभवेण च सव्वाइ।

दोनो मे से एक श्रेणि के सिवाय एक भव मे देशविरति, सर्व-विरति चारित्र आदि सभी प्राप्त कर सकते है। तथा—

'मोहोपशम एकस्मिन् भवे द्वि. स्यादसन्तत.।
यस्मिन्भवे तूपशम· क्षयोमोहस्य तत्र न॥'

एक भव मे मोह का उपशम दो बार हो सकता है। परन्तु जिस भव मे मोह का सर्वोपशम हुआ हो उस भव मे मोह का सर्वथा क्षय नही होता है।

इस प्रकार पुरुषवेद से श्रेणि प्राप्त करने वाले की अपेक्षा विधि

है। अब स्त्रीवेद और नपु सकवेद से उपशमश्रेणि प्राप्त करने वाले की अपेक्षा विधि प्रक्रिया बतलाते हैं।

स्त्री-नपु सकवेदापेक्षा उपशमश्रेणि विधि

दुचरिमसमये नियगोदयस्स इत्थीनपु सगोण्णोण्ण ।
समयित्तु सत्त पच्छा किन्तु नपु सो कमारद्धे ॥६४॥

शब्दार्थ—**दुचरिमसमये**—द्विचरम समय मे, **नियगोदयस्स**—अपने उदय के, **इत्थीनपु सगो**—स्त्री और नपु सक वेद, **ण्णोण्ण**—अन्योन्य—एक दूसरे का, **समयित्तु**—उपशम करके, **सत्त**—सात प्रकृतियो को, **पच्छा**—पश्चात्, **किन्तु**—लेकिन, **नपु सो**—नपु सकवेद, **कमारद्धे**—क्रम प्रारम्भ करने पर।

गाथार्थ—स्त्री और नपु सक अपने उदय के द्विचरम समय मे अन्योन्य वेद को उपशमित करता है, तत्पश्चात् सात प्रकृतियो को उपशमित करता है परन्तु नपु सकवेद से श्रेणि क्रम आरम्भ करने पर पहले नपु सकवेद को और कुछ समय बाद स्त्रीवेद का उपशमित करना प्रारम्भ करता है।

विशेषार्थ—अभी तक यह बताया है कि पुरुषवेद के उदय मे श्रेणि आरम्भ करने वाला किस क्रम से चारित्रमोहनीय की प्रकृतियो को उपशमित करता है। अब स्त्री या नपु सकवेद के उदय मे श्रेणि आरम्भ करने वाला किस क्रम से उपशमित करता है, यह स्पष्ट करते हैं—

जब स्त्रीवेद के उदय मे कोई उपशमश्रेणि प्राप्त करता है तब पहले नपु सकवेद को उपशमित करता है। उसके बाद स्त्रीवेद अपने उदय के द्विचरम समय पर्यन्त उपशमित करता है। अपने उदय के द्विचरम समय मे अन्तिम एक उदयसमय को छोडकर स्त्रीवेद का समस्त दलिक शात हो जाता है। उस एक अतिम उदयस्थिति को भोग लेने के बाद अवेदक होकर हास्यषट्क और पुरुषवेद इन सातो प्रकृतियो को एक साथ उपशमित करना प्रारम्भ करता है और शेष कथन

पुरुषवेद के उदय मे श्रेणि आरम्भ करने वाले के समान समझना चाहिए।

स्त्रीवेद या पुरुषवेद के उदय मे श्रेणि स्वीकार करने वाला जिस स्थान मे नपुंसकवेद को उपशमित करता है, उस स्थान पर्यन्त नपुंसकवेद के उदय मे श्रेणि माडने वाला नपुंसकवेद को ही उपशमित करने की क्रिया करता है। उसके बाद नपुंसकवेद और स्त्रीवेद इन दोनो को एक साथ उपशमित करता है। इस प्रकार नपुंसकवेदोदय के द्विचरमसमयपर्यन्त दोनो को उपशमित करता है। उस द्विचरम समय मे स्त्रीवेद सर्वथा उपशमित हो जाता है और नपुंसकवेद की एक उदयस्थिति शेप रहती है। वह एक उदयस्थिति भी भोगी जाने के पश्चात् हास्यपट्क और पुरुषवेद इन सात को एक साथ उपशमित करना प्रारम्भ करता है और इसके बाद का क्रम पुरुषवेद के उदय मे श्रेणि आरम्भ करने वाले के समान समझना चाहिये।[1]

इस प्रकार से मोहनीयकर्म के सर्वोपशम का स्वरूप जानना चाहिये।[2] अब देशोपशमना का प्रतिपादन करते है।

---

१ पुरुषवेद का बधविच्छेद कहाँ होता है और बधविच्छेद होने के बाद जैसे समयोन दो आवलिका मे बधा हुआ अनुपशात रहता है, वह यहाँ रहता है या नही, यह नही कहा है। परन्तु शेप कथन पुरुषवेद के उदय मे श्रेणि आरम्भ करने वाले की तरह समझना चाहिये, कहा है। इससे ऐसा ज्ञात होता है कि पुरुपवेद के उदय मे श्रेणि आरम्भ करने वाले के जहाँ उसका बधविच्छेद होता है, वही स्त्रीवेद या नपुंसकवेद के उदय मे श्रेणि आरम्भ करने वाले के भी पुरुषवेद का बधविच्छेद होता है और बधविच्छेद के समय समयोन दो आवलिका मे बधा हुआ जो अनुपशात रहता है, उसे उतने ही समय मे उपशमित करता है।

२ क्रोधादि कषायोदय और अन्यतर वेदोदय मे श्रेणि प्रारम्भक का विवरण परिशिष्ट मे देखिये।

देशोपशमना का स्वरूप, स्वामी

मूलुत्तरकम्माणं पगडिट्ठितिमादि होइ चउभेया ।
देसकरणेहि देसं समइ जं देससमणा तो ॥९५॥

उवट्टण ओवट्टण संकमकरणाइ होंति नण्णाइ ।
देसोवसामियस्सा जा पुव्वो सव्वकम्माण ॥९६॥

शब्दार्थ—**मूलुत्तरकम्माण**—मूल और उत्तर कर्मप्रकृतियो के, **पगडिट्ठितिमादि**—प्रकृति, स्थिति आदि, **होइ**—होते है, **चउभेया**—चार भेद, **देसकरणेहिं**—देशकरणो से, **देस**—एकदेश, **समइ**—शमित करता है, **ज**—क्योकि, **देससमणा**—देशोपशमना, **तो**—अत ।

उवट्टण—उद्वर्तना, **ओवट्टण**—अपवर्तना, **सकमकरणाइ**—सक्रमकरण, **होंति**—होते हैं, **नण्णाइ**—अन्य नही, **देसोवसामियस्सा**—देशोपशमना के स्वामी, **जा पुव्वो**—अपूर्वकरणगुणस्थान तक, **सव्वकम्माण**—सभी कर्मो के ।

गाथार्थ—मूल और उत्तर प्रकृतियो के प्रकृति, स्थिति आदि चार भेद होते हैं । देशकरणो से उनके एक देश को शमित करता है, अत देशोपशमना कहते हैं ।

देशोपशमना द्वारा शमित दलिक मे उद्वर्तना, अपवर्तना और सक्रम ये तीन करण होते है, शेष नही होते है । अपूर्वकरणगुणस्थान तक के जीव सभी कर्मो की देशोपशमना के स्वामी है ।

विशेषार्थ—सर्वोपशमना का विस्तार से स्वरूप निर्देश करने के पश्चात् अव देशोपशमना का विचार प्रारम्भ करते है·—

देशोपशमना इस नामकरण का कारण यह है कि करण के एकदेश—यथाप्रवृत्तकरण और अपूर्वकरण इन दोनो करणो के द्वारा प्रकृति, स्थिति, अनुभाग (रस) और प्रदेश के अमुक भाग को उपशमित करना, किन्तु सर्वोपशमना की तरह सम्पूर्ण भाग को उपशमित नही करना देशोपशमना कहलाती है । देशोपशमना द्वारा उपशमित दलिको मे

मात्र संक्रम, उद्वर्तना, अपवर्तना यही तीन करण लागू होते हैं। देशोपशमना मूलकर्मो और उनकी उत्तर प्रकृतियो की होती है तथा उनके जो प्रकृति, स्थिति, रस और प्रदेश ये चार भेद हैं, उन प्रत्येक की होती है। जिससे मूलप्रकृतिविषयक और उत्तरप्रकृतिविषयक इस प्रकार देशोपशमना के दो भेद है और वे दोनो भी प्रत्येक प्रकृति, स्थिति, रस और प्रदेश के भेद से चार-चार प्रकार के हैं। इस प्रकार देशोपशमना के आठ भेद होते हैं।

यह देशोपशमना सर्वोपशमना की तरह केवल मोहनीयकर्म की ही नही, किन्तु सभी—आठो कर्मो की होती है।

इस देशोपशमना द्वारा मूल अथवा उत्तर प्रकृतियो को उपशमित करने के स्वामी सामान्य से अपूर्वकरणगुणस्थान के चरमसमयपर्यन्त वर्तमान प्रत्येक जीव हैं। यानि सभी एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असज्ञी-सज्ञी पचेन्द्रिय तिर्यंच, देव, नारक और मनुष्य देशोपशमना के स्वामी हैं। उनमे से मनुष्य तो अपूर्वकरणगुणस्थान के चरमसमय तक वर्तमान स्वामी है। क्योकि मनुष्यो को ही आठवा अपूर्वकरणगुणस्थान होता है और दूसरे जीव अपने-अपने गुणस्थान पर्यन्त ही देशोपशमना के स्वामी है।

लेकिन इस स्वामित्व के विषय मे भी जो विशेष है, अब उसको स्पष्ट करते है।

देशोपशमना स्वामित्व विषयक विशेष

खवगो उवसमगो वा पढमकसायाण दंसणतिगस्स।
देसोवसामगो सो अपुव्वकरणतगो जाव ॥६७॥

शब्दार्थ—खवगो—क्षपक, उवसमगो—उपशमक, वा—अथवा, पढमकसायाण—प्रथम कषाय के, दसणतिगस्स—दर्शनमोहत्रिक, देसोवसामगो—देशोपशमक, सो—वह, अपुव्वकरणतगो—अपूर्वकरण के चरमसमय, जाव—तक पर्यन्त।

गाथार्थ—तीन करण करते हुए अपने अपूर्वकरण के चरम-समय तक के क्षपक अथवा उपशमक प्रथम कषाय और दर्शन मोहत्रिक के देशोपशमक (देशोपशमना के स्वामी) है।

विशेषार्थ—सामान्य से तो सभी कर्मो की देशोपशमना अपूर्वकरण-गुणस्थान के चरमसमयपर्यन्त ही होती है, परन्तु जिस गुणस्थान मे प्रथम कषाय - अनन्तानुवधि की विसयोजना अथवा उपशमना करने एव मिथ्यात्व और दर्शनमोहत्रिक की उपशमना और क्षपणा करने के लिये तीन करण करता है, उनमे अपूर्वकरण तक ही उन-उन प्रकृतियो की देशोपशमना होती है। जैसे—अनादि मिथ्यादृष्टि चारो गति के सज्ञी पर्याप्त उपशमसम्यक्त्व की प्राप्ति के लिये मिथ्यात्वमोहनीय को उपशमित करने मिथ्यात्वगुणस्थान मे तीन करण करता है, उसमे मिथ्यात्वमोहनीय की देशोपशमना अपूर्वकरण के चरम-समय पर्यन्त ही होती है।

अनन्तानुबधि कषायो की विसयोजना करने के लिये चारो गति के सज्ञी पर्याप्त स्व स्व प्रायोग्य चौथे से सातवे गुणस्थान मे रहते तीन करण करते है। अनन्तानुबधि कषायो की उपशमना करने के लिये सर्वविरति मनुष्य ही तीन करण करते है और उनकी देशोपशमना उन तीन करणो मे से अपूर्वकरण के चरमसमयपर्यन्त ही होती है।

दर्शनमोहत्रिक की क्षपणा के लिये चौथे से सातवे गुणस्थान तक प्रथमसहनन—वज्रऋषभनाराच सहनन वाला तीन करण करता है और उसकी उपशमना के लिये सर्वविरत मनुष्य ही तीन करण करते है। उनमे के अपूर्वकरण तक ही उसकी देशोपशमना होती है और अन्य कर्मों की देशोपशमना तो अपूर्वकरणगुणस्थान के चरमसमय पर्यन्त होती है।

इस प्रकार मे देशोपशमना के स्वरूप और स्वामित्व का विचार करने के पश्चात् अव साद्यादि प्ररूपणा करते हैं।

सादि-अनादि प्ररूपणा

साइयमाइचउद्धा देसुवसमणा अणाइसतीण।
मूलुत्तरपगईण साइ अधुवा उ अधुवाओ ॥६८॥

शब्दार्थ—साइयमाइचउद्धा—सादि आदि चार प्रकार की है, देसुवसमणा—देशोपशमना, अणाइसतीण—अनादिसत्ता वाली, मूलुत्तरपगईण—मूल और उत्तर प्रकृतियो की साइ—सादि, अधुवा—अध्रुव, उ—और, अधुवाओ—अध्रुवसत्ता वाली।

गाथार्थ—अनादिसत्ता वाली मूल और उत्तार प्रकृतियो की देशोपशमना सादि आदि चार प्रकार की है और अध्रुवसत्ता वाली प्रकृतियो की सादि और अध्रुव है।

विशेषार्थ—जिन मूल और उत्तार प्रकृतियो की ध्रुवसत्ता—अनादि काल मे सत्ता है, उनकी देशोपशमना सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस प्रकार चार विकल्प वाली है।

मूलकर्मप्रकृतियो मे ये चार विकल्प इस प्रकार जानना चाहिये—मूल आठ कर्मो की अपूर्वकरणगुणस्थान मे आगे देशोपशमना होती नही है, किन्तु वहां से पतन होने पर होती है, इसलिये सादि है। उस स्थान को जिसने प्राप्त नही किया उसकी अपेक्षा अनादि और अभव्यो की अपेक्षा ध्रुव है, क्योकि अभव्य उस स्थान को प्राप्त करने वाले ही नही है तथा भव्य उस स्थान का स्पर्श करेगे, तब देशोपशमना का अत करेगे अत उनकी अपेक्षा अध्रुव-सात है। इस प्रकार मे मूल कर्मो की देशोपशमना के चार विकल्प जानना चाहिये।

अब उत्तारप्रकृतियो मे इन्ही चार विकल्पो का निर्देश करते है—

वैक्रियसप्तक, आहारकसप्तक, मनुष्यद्विक, देवद्विक, नारकद्विक, सम्यक्त्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय और उच्चगोत्र रूप उद्वलनयोग्य तेईस तथा तीर्थंकरनाम, आयुचतुष्टय, इन तरह अट्ठाईस प्रकृतियो

को छोडकर शेष एक सौ तीस प्रकृतियाँ अनादिसत्ता वाली है। उनमे मिथ्यात्व और अनन्तानुबधि की देशोपशमना अपने-अपने अपूर्वकरण से आगे नही होती है और शेष सभी प्रकृतियो की अपूर्वकरण-गुणस्थान से आगे नही होती, उस स्थान से पतन होने पर होती है इसलिये सादि है, उस स्थान को जिन्होने प्राप्त नही किया उनकी अपेक्षा अनादि, अभव्य की अपेक्षा ध्रुव—अनन्त और भव्य की अपेक्षा अध्रुव—सान्त है और जो उपर्युक्त अट्ठाईस अध्रुवसत्ता वाली प्रकृतिया है, उनकी देशोपशमना उनके अध्रुव सत्ता वाली होने से सादि और अध्रुव—सात इस तरह दो विकल्प वाली है।

इस प्रकार से एक-एक प्रकृति की साद्यादि प्ररूपणा जानना चाहिये। अब प्रकृतिस्थानो की साद्यादि प्ररूपणा करते है।

प्रकृतिस्थानो की साद्यादि प्ररूपणा

गोयाउयाण दोण्हं चउत्थ छट्ठाण होइ छ सत्तण्ह।
साइयमाइ चउद्धा सेसाणं एगठाणस्स ॥६६॥

शब्दार्थ—**गोयाउयाण**—गोत्र और आयु के, **दोण्ह**—दो, **चउत्थ**—चौथे मोहनीय के, **छट्ठाण**—छह स्थान, **होइ**—होते हैं, **छ**—छठे नाम-कम के, **सत्तण्ह**—सात स्थान, **साइयमाइ**—सादि आदि, **चउद्धा**—चार प्रकार के, **सेसाण**—शेष कर्मों का, **एगठाणस्स**—एक-एक स्थान।

गाथार्थ—गोत्र और आयु के दो स्थान, चौथे मोहनीय के छह स्थान और छठे नामकर्म के सात स्थान हैं, वे सभी स्थान सादि आदि चार प्रकार के हैं, शेष कर्मो का एक-एक स्थान है।

विशेषार्थ—सत्ता मे रही हुई एक या अनेक जितनी भी प्रकृतियो की एक साथ देशोपशमना हो सकती है, उनके समुदाय को स्थान कहते हैं।

गोत्रकर्म के देशोपशमना सम्बन्धी दो प्रकृतिस्थान है—१ दो-प्रकृतिक और २ एक-प्रकृतिक। जब तक उच्चगोत्र की उद्वलना नही की होती है, तब तक गोत्र की दोनो प्रकृतिया सत्ता मे होती है। इसलिये दो प्रकृतियो का पहला प्रकृतिस्थान और उच्चगोत्र की उद्वलना करे तब एक नीचगोत्र की सत्ता होती है, जिससे उस एक प्रकृति का दूसरा प्रकृतिस्थान होता है।

आयु कर्म के भी दो प्रकृतिस्थान है—१ दो-प्रकृति रूप और २ एक-प्रकृति रूप। जब तक परभवायु न बाधो हो तब तक भुज्यमान एक ही आयु की सत्ता होती है। इसलिये एक-प्रकृति का पहला और जब परभवायु का बध करे तब दो-प्रकृति का दूसरा प्रकृति-स्थान होता है।

इस प्रकार गोत्र के दो और आयु के दो इन चारो स्थानो की देशो-पमना इनके अध्रुव होने से सादि और अध्रुव—सात दो विकल्प वाली है।

चौथे मोहनीयकर्म के देशोपशमना के योग्य छह प्रकृतिस्थान इस प्रकार है—इक्कीस, चौबीस, पच्चीस, छब्बीस, सत्ताईस और अट्ठाईस प्रकृतियो के समुदाय रूप। शेप तेरह, बारह आदि प्रकृनिक प्रकृतिस्थान अनिवृत्तिबादरसपरायगुणस्थान मे होते है। अतएव वे देशोपशमना के योग्य नही है।

इन स्थानो मे से अट्ठाईस प्रकृतिक स्थान मिथ्यादृष्टि, सासादन-सम्यग्दृष्टि और वेदकसम्यग्दृष्टि के होता है। सत्ताईस का जिसने सम्यक्त्वमोहनीय की उद्वलना की हो ऐसे मिथ्यादृष्टि के, छब्बीस का जिसने मिश्र तथा सम्यक्त्वमोहनीय की उद्वलना की हो ऐसे मिथ्यादृष्टि अथवा अनादि मिथ्यादृष्टि के, पच्चीस का छब्बीस की सत्ता वाले मिथ्यादृष्टि के सम्यक्त्व उत्पन्न करते अपूर्वकरण से आगे, क्योंकि वहा मिथ्यात्व की देशोपशमना होती नही है, पच्चीस प्रकृतियो की ही हो सकती है तथा अनन्तानुबधि की विसयोजना करते अपूर्व-

करण से आगे चौबीस का, अथवा चौवीस की सत्ता वाले के चौबीस का, अनन्तानुबधिचतुष्क और दर्शनत्रिक इन सात प्रकृतियो का जिसने क्षय किया है, ऐमे क्षायिकसम्यग्दृष्टि के इक्कोस प्रकृतियो का सत्ता-स्थान होता है। इस प्रकार मोहनीयकर्म के ये छह प्रकृतिस्थान देशोप-शमना के योग्य है।

इन छह मे से छब्बीस का स्थान छोडकर शेष पाच स्थानो के कादाचित्क होने से उनकी देशोपशमना सादि और अध्रुव इस तरह दो विकल्प वाली है और छब्बीस प्रकृतिक स्थान सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह चार प्रकार का है। उसमे जिसने सम्यक्त्व मिश्रमोहनीय की उद्वलना की उसकी अपेक्षा अट्ठाईस से छब्बीस मे आया, इसलिए सादि, अनादिमिथ्यादृष्टि के अनादि, अभव्य के ध्रुव—अनन्त और भव्य के अध्रुव—सात।

इस प्रकार से मोहनीयकर्म की देशोपशमना योग्य प्रकृतिस्थानो की सख्या और उनके विकल्पो को जानना चाहिये।

अब छठे नामकर्म के देशोपशमना योग्य स्थान और उनके सादि आदि विकल्पो का निर्देश करते है—

नामकर्म के देशोपशमना के योग्य एक सौ तीन, एक सौ दो, छियानवै, पचानवै, तेरानवै, चौरासी और वयासी प्रकृतियो के समु दाय रूप सात प्रकृतिस्थान है। इनमे के आदि के चार स्थान अपूर्व-करणगुणस्थान के चरमसमयपर्यन्त देशोपशमना के योग्य जानना चाहिये। शेष तेरानवै, चौरासी और वयासी प्रकृतिक ये तीन स्थान एकेन्द्रियादि मे देवद्विकादि प्रकृतियो की उद्वलना के बाद होते हैं। उनकी देशोपशमना वे कर सकते हैं। शेष स्थान अपूर्वकरणगुणस्थान से आगे होते है। इसलिये वे देशोपशमना के अयोग्य है। इन सातो स्थानो की देशोपशमना, उन सभी स्थानो के अनित्य होने से सादि और अध्रुव—सात इस तरह दो विकल्प वाली है।

शेष ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय इन चार कर्मो का देशोपशमना आश्रयी एक-एक प्रकृतिस्थान इस प्रकार है— ज्ञानावरण और अन्तराय का पाच-पाच प्रकृतिरूप, दर्शनावरण का नौ प्रकृतिरूप और वेदनीय का दो प्रकृतिरूप इनकी देशोपशमना सादि आदि चार विकल्प वाली है। अपूर्वकरण से आगे उनमे के एक भी प्रकृतिस्थान की देशोपशमना होती नही है, किन्तु वहाँ से गिरने पर होती है इसलिये सादि, उस स्थान को जिसने प्राप्त नही किया उसकी अपेक्षा अनादि, अभव्य की अपेक्षा ध्रुव—अनन्त और भव्य की अपेक्षा अध्रुव—सात है।

इस प्रकार से साद्यादि प्ररूपणा के साथ प्रकृति देशोपशमना का निरूपण पूर्ण हुआ। अब क्रमप्राप्त स्थिति-देशोपशमना के स्वरूप का विचार करते है।

स्थिति-देशोपशमना

उवसामणा ठिइओ उक्कोसा सकमेण तुल्लाओ।
इयरा वि किन्तु अभव्वउव्वलगअपुव्वकरणेसु ॥१००॥

शब्दार्थ—उवसामणा—देशोपशमना, ठिइओ—स्थिति की, उक्कोसा—उत्कृष्ट, सकमेण—सक्रम के, तुल्लाओ—तुल्य, इयरावि—इतर-जघन्य भी, किन्तु—किन्तु, अभव्वउव्वलग—अभव्य योग्य जघन्य स्थिति मे वर्तमान उद्वलक अपुव्वकरणेसु—अपूर्वकरणवर्ती जीव के।

गाथार्थ—स्थिति की उत्कृष्ट देशोपशमना उत्कृष्ट सक्रम के तुल्य और जघन्य देशोपशमना भी जघन्य सक्रम-तुल्य है किन्तु वह अभव्ययोग्य जघन्य स्थिति मे रहते एकेन्द्रिय, उद्वलक अथवा अपूर्वकरणवर्ती जीव के होती है।

विशेषार्थ—मूल प्रकृतिविषयक और उत्तरप्रकृतिविषयक इस तरह स्थिति-देशोपशमना दो प्रकार की है तथा उन दोनो के

उत्कृष्ट और जघन्य इस तरह दो-दो भेद है। उनमे से मूल अथवा उत्तर प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति देशोपशमना उत्कृष्ट सक्रम के समान है। अर्थात् अधिक से अधिक जितनी स्थिति का सक्रम होता है, उतनी स्थिति की देशोपशमना भी हो सकती है तथा सक्रमकरण मे उत्कृष्ट स्थितिसक्रम के जो स्वामी बताये हैं और जिस प्रकार से उत्कृष्ट स्थितिसक्रम के विषय मे सादि आदि विकल्पो का विचार किया है, उसी प्रकार से उत्कृष्ट देशोपशमना के सम्बन्ध मे समझना चाहिये। अर्थात् उत्कृष्ट देशोपशमना पूर्ण रूपेण उत्कृष्ट सक्रम के समान है।

इतर – जघन्यस्थितिदेशोपशमना भी जघन्यस्थितिसक्रम जैसी है। परन्तु वह अभव्यप्रायोग्य जघन्यस्थिति मे रहते हुए एकेन्द्रिय को जानना चाहिये। क्योकि प्राय समस्त कर्मो की अति जघन्य स्थिति उसी के होती है। परन्तु जो जीव उद्‌वलना योग्य तेईस प्रकृतियो के उद्‌वलक हो, वे उन प्रकृतियो की उद्‌वलना करते अन्तिम पल्योपम के असख्यातवे भागप्रमाण स्थितिखड शेष रहे तब जघन्य स्थितिदेशोपशमना करते है। उनमे आहारकसप्तक, सम्यक्त्व-मोहनीय और मिश्रमोहनीय की उद्‌वलना एकेन्द्रियादि सभी जीव करते हैं और शेष चौदह प्रकृतियो के उद्‌वलक एकेन्द्रिय ही है। जिससे उनकी जघन्य स्थितिदेशोपशमना वही करते हैं। उसमे भी आहारकसप्तक की उद्‌वलना चार गुणस्थानो तक हो सकती है, इसलिये वहाँ तक के जीव उनकी जघन्यदेशोपशमना के स्वामी है तथा जिस प्रकृति की मिथ्यादृष्टि के जघन्य स्थितिदेशोपशमना नही हो सकती है, उस तीर्थंकरनामकर्म की अपूर्वकरण मे जघन्य स्थितिदेशोपशमना होती है।

इस प्रकार से स्थितिदेशोपशमना का विवेचन जानना चाहिये। अब अनुभाग और प्रदेश देशोपशमना का विचार करते है।

अनुभाग-प्रदेश देशोपशमना

अणुभाग पएसाणं सुभाण जा पुव्व मिच्छ इयराण ।
उक्कोसियरं अभविय एगेंदि देससमणाए ॥१०१॥

शब्दार्थ—**अणुभाग पएसाण**—अनुभाग और प्रदेश की, **सुभाण**—शुभ प्रकृतियो की, **जा पुव्व**—अपूर्वकरण तक, **मिच्छ**—मिथ्यादृष्टि के, **इयराण**—इतर—अशुभ प्रकृतियो की, **उक्कोसियर**—उत्कृष्ट, इतर, **अभविय**—अभव्य, **एगेंदि**—एकेन्द्रिय, **देससमणाए**—देशोपशमना के ।

गाथार्थ—अनुभाग और प्रदेश की देशोपशमना सक्रम के तुल्य है। परन्तु शुभप्रकृतियो की उत्कृष्ट अनुभाग और प्रदेश देशोपशमना अपूर्वकरण तक और इतर—अशुभ प्रकृतियो की मिथ्यादृष्टि के होती है तथा जघन्यदेशोपशमना के अभव्ययोग्य जघन्य स्थिति मे वर्तमान एकेन्द्रिय स्वामी हैं।

विशेषार्थ—अनुभागदेशोपशमना और प्रदेशदेशोपशमना अनुक्रम से अनुभागसक्रम और प्रदेशसक्रम के तुल्य है। उसमे से पहले अनुभाग-देशोपशमना का विचार करते है—

जघन्य और उत्कृष्ट के भेद से अनुभागदेशोपशमना दो प्रकार की है। उसमे जो जीव उत्कृष्ट अनुभागसक्रम का स्वामी है, वही जीव उत्कृष्ट अनुभागदेशोपशमना का भी स्वामी है। लेकिन शुभप्रकृतियो की उत्कृष्ट देशोपशमना का स्वामी सम्यग्दृष्टि है। मात्र सातावेदनीय, उच्चगोत्र और यश कीर्ति के उत्कृष्ट अनुभागसक्रम के स्वामी अपूर्व-करणगुणस्थान से आगे के जीव भी हैं, किन्तु उत्कृष्ट अनुभागदेशोप-शमना के स्वामी अपूर्वकरण तक के ही जीव है। यानि किसी भी शुभप्रकृति की उत्कृष्ट अनुभागदेशोपशमना के स्वामी अपूर्वकरण तक मे वर्तमान सम्यग्दृष्टि जीव ही है।

इतर—अशुभप्रकृतियो की उत्कृष्ट अनुभागदेशोपशमना का स्वामी उत्कृष्ट अनुभाग सक्रम के स्वामी के समान मिथ्यादृष्टि है। तथा—

जघन्य अनुभागदेशोपशमना के स्वामी इस प्रकार जानना चाहिए —तीर्थकरनाम के सिवाय सभी प्रकृतियो की जघन्य अनुभाग देशोपशमना का स्वामी अभव्यसिद्धिकयोग्य जघन्यस्थिति मे वर्तमान एकेन्द्रिय जीव है। यद्यपि ज्ञानावरणपचक, सज्वलनकपायचतुष्क, दर्शनावरणचतुष्क, नव नोकषाय, अन्तरायपचक इन सत्ताईस प्रकृतियो का जघन्य सक्रम अपने-अपने अन्त समय कहा है, परन्तु वह नौवे और दसवे गुणस्थान मे होता है और अनुभागदेशोपशमना तो अपूर्वकरण तक ही होती है। जिससे इन सभी प्रकृतियो की जघन्य अनुभागदेशोपशमना का स्वामी अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थिति वाला एकेन्द्रिय है। अभव्यप्रायोग्य अति अल्पस्थिति वाले एकेन्द्रिय जीव से अपूर्वकरणगुणस्थान वाले के अनुभाग अनन्तगुण अधिक होता है। इसीलिये उक्त एकेन्द्रिय ही जघन्य अनुभागदेशोपशमना का स्वामी माना है।

तीर्थंकरनामकर्म के जघन्य अनुभागसक्रम का स्वामी ही उसकी जघन्य अनुभागदेशोपशमना का भी स्वामी है।

इस प्रकार से अनुभागदेशोपशमना का वर्णन जानना चाहिये। अब प्रदेशदेशोपशमना का विचार करते हैं—

प्रदेशदेशोपशमना के जघन्य और उत्कृष्ट यह दो भेद है। उनमे से उत्कृष्ट प्रदेशदेशोपशमना उत्कृष्ट प्रदेशसक्रम तुल्य है। यानि जो जीव जिन प्रकृतियो के उत्कृष्ट प्रदेशसक्रम का स्वामी है, वही जीव उन प्रकृतियो की उत्कृष्ट प्रदेशदेशोपशमना का भी स्वामी है। मात्र उत्कृष्ट प्रदेशदेशोपशमना अपूर्वकरणगुणस्थान के चरम समय पर्यन्त जानना चाहिये और जघन्य प्रदेशदेशोपशमना अभव्य प्रायोग्य जघन्य स्थिति मे वर्तमान एकेन्द्रिय के ही होती है।

इस प्रकार से देशोपशमना का स्वरूप जानना चाहिये और इसके साथ उपशमनाकरण का वर्णन पूर्ण हुआ।

निद्धत्ति–निकाचना करण

उपशमनाकरण के पश्चात् अब क्रमप्राप्त निद्धत्ति और निकाचना करण का प्रतिपादन करते है—

देसुवसमणा तुल्ला होइ निहत्ती निकायणा नवरि।
संकमणं वि निहत्तीइ नत्थि सव्वाणि इयरीए ॥१०२॥

शब्दार्थ—देसुवसमणा—देशोपशमना के, तुल्ला—तुल्य, होइ—हैं, निहत्ती निकायणा—निद्धति और निकाचना करण, नवरि—किन्तु, संकमण—संक्रमण, वि—भी, निहत्तीइ—निद्धति मे, नत्थि—नही होता, सव्वाणि—सभी, इयरीए—इतर मे—निकाचना मे।

गाथार्थ—देशोपशमना के तुल्य निद्धत्ति और निकाचना-करण हैं। मात्र निद्धत्ति मे संक्रमण नही होता और निकाचना मे सभी करण लागू नही होते हैं।

विशेषार्थ—निद्धत्ति और निकाचना इन दोनो करणो का स्वरूप देशोपशमना के तुल्य है। अर्थात् देशोपशमना मे उसके भेद, स्वामी साद्यादि प्ररूपणा और प्रमाण आदि जो कुछ कहा गया है, वह सब जैसा का तैसा निद्धति और निकाचना के सम्बन्ध मे भी जानना चाहिये। किन्तु विशेष यह है कि देशोपशमना मे संक्रमण, उद्वर्तना और अपवर्तना यह तीन करण प्रवर्तित होते हैं लेकिन निद्धत्ति मे

उद्वर्तना और अपवर्तना इन दो करणो की प्रवृत्ति होती है और निकाचना मे कोई भी करण सम्भव नही है। क्योकि निकाचितदलिक समस्त करणो के अयोग्य है।

जहाँ-जहाँ गुणश्रेणि होती है, वहाँ प्राय: देशोपशमना, निद्धति, निकाचना और यथाप्रवृत्तसक्रम भी सम्भव है। इसलिये अब उनका परस्पर अल्पबहुत्व बतलाते है—

गुणसेढिपएसग्ग थोव उवसामियं असखगुणं।
एव निहय निकाइय अहापवत्तेण सकत ॥१०३॥

शब्दार्थ—**गुणसेढिपएसग्ग**—गुणश्रेणि प्रदेशाग्र, **थोव**—स्तोक, **उवसामिय**—उपशमित, **असखगुण**—असख्यातगुण, **एव**-इसी प्रकार, **निहय**—निद्धत्त, **निकाइय**—निकाचित, **अहापवत्तेणसकत**—यथाप्रवृत्तयसक्रम से सक्रमित।

गाथार्थ—गुणश्रेणि प्रदेशाग्र स्तोक है, उससे उपशमित असख्यातगुण है, इसी प्रकार अनुक्रम से निद्धत्त और निकाचित रूप हुए और उससे यथाप्रवृत्तसक्रम से सक्रमित असख्यातगुण-असख्यातगुण है।

विशेषार्थ—किसी भी कर्म की गुणश्रेणि मे गुणश्रेणि द्वारा जो दलिक स्थापित किये जाते हैं, वे जिनका कथन आगे किया जा रहा है, उनकी अपेक्षा अल्प स्तोक है। उनसे देशोपशमना द्वारा जो उपशमित होते है, वे असख्यातगुण है, उनसे जो दलिक निद्धत्ति रूप होते है, वे असख्यातगुण है, उनसे निकाचित रूप दलिक असख्यातगुण है और उनसे यथाप्रवृत्तसक्रम द्वारा सक्रमित दलिक असख्यातगुण है।

इस प्रकार से निद्धत्ति एव निकाचना करण की व्याख्या जानना चाहिये।

अव उपसहार रूप मे आठो करणो के अध्यवसायो का अल्पवहुत्व वतलाते है—

ठिइबंधउदीरणतिविहसंकमे होतिऽसखगुण कमसो।
अज्झवसाया एवं उवसामणमाइएसु कमा ॥१०४॥

शब्दार्थ—**ठिइबधउदीरणतिविहसकमे**—स्थितिबध, उदीरणा, त्रिविध सक्रम मे, **होति**—होते है, **असखगुण**—असख्यातगुण, **कमसो**—अनुक्रम से, **अज्झवसाया**—अध्यवसाय, **एव**—और, **उवसामणमाइएसु**—उपशमना आदि मे **कमा**—क्रमश ।

गाथार्थ—स्थितिबध, उदीरणा, त्रिविध सक्रम और उपशमना आदि मे अध्यवसाय अनुक्रम से असख्यातगुण है ।

विशेषार्थ—गाथा मे आगत ठिइबध—स्थितिबध शब्द से स्थिति और अनुभाग के बध मे कषाय रूप कारण समान होने से अनुभागबध भी ग्रहण किया गया है। योग से होने वाले प्रकृति और प्रदेश बध यहाँ ग्रहण नही किये हे—इसोलिए स्थितिबध यह पद रखा है। यानि स्थितिबध और अनुभाग बध के अर्थात् बधनकरण के हेतुभूत अध्यवसाय अल्प है। उनसे उदीरणा के योग्य अध्यवसाय असख्यातगुण है, उनसे उद्वर्तना, अपवर्तना और सक्रम इन तीन करणो के समुदित अध्यवसाय असख्यातगुण है, उनसे उपशमनायोग्य अध्यवसाय असख्यातगुण है, उनसे निद्धत्तियोग्य अध्यवसाय असख्यातगुण है और उनसे भी निकाचनायोग्य अध्यवसाय असख्यातगुण है ।

इस प्रकार आठो करणो का स्वरूप जानना चाहिये। अब क्रम प्राप्त सप्ततिका प्ररूपणा अधिकार का विवेचन करेंगे ।

॥ उपशमनादि करणत्रय समाप्त ॥

परिशिष्ट १

उपशमनादि करणत्रय-प्ररूपणा अधिकार

मूल गाथाएँ

देसुवसमणा सव्वाण होइ सव्वोवसामणा मोहे ।
अपसत्था पसत्था जा करणुवसमणाए अहिगारो ॥१॥
सव्वुवसमणजोग्गो पज्जत्त पणिंदि सण्णि सुभलेसो ।
परियत्तमाणसुभपगइबधगोऽतीव सुज्झतो ॥२॥
असुभसुभे अणुभागे अणतगुणहाणिवुड्ढिपरिणामो ।
अन्तोकोडाकोडीठिइओ आउ अबधतो ॥३॥
बन्धादुत्तरबन्ध पलिओवमसखभागऊणूण ।
सागारे उवओगे वट्टन्तो कुणइ करणाइ ॥४॥
पढम अहापवत्त बीय तु नियट्टी तइयमणियट्टी ।
अतोमुहुत्तियाइ उवसमअद्ध च लहइ कमा ॥५॥
आइल्लेसु दोसु जहन्नउक्कोसिया भवे सोही ।
ज पइसमय अज्झवसाया लोगा असखेज्जा ॥६॥
पइसमयमणन्तगुणा सोही उड्ढामुही तिरिच्छा उ ।
छट्ठाणा जीवाण तइए उड्ढामुही एक्का ॥७॥
गन्तु सखेज्जस अहापवत्तस्स हीण जा सोही ।
तीए पढमे समये अणन्तगुणिया उ उक्कोसा ॥८॥
एव एक्कतरिया हेट्ठुवरिं जाव हीणपज्जन्ते ।
तत्तो उक्कोसाओ उवरुवरिं होइ अणन्तगुणा ॥९॥
जा उक्कोसा पढमे तीसेणन्ता जहण्णिया बीए ।
करणे तीए जेट्ठा एव जा सव्वकरणपि ॥१०॥

अपुव्वकरणसमग कुणइ अपुव्वे इमे उ चत्तारि।
ठितिघाय रसघाय गुणसेढी बधगद्धा य ॥११॥

उक्कोसेण बहुसागराणि इयरेण पल्लसखसं।
ठितिअग्गाओ घायइ अन्तमुहुत्तेण ठितिखड ॥१२॥

असुभाणतमुहुत्तेण हणइ रसकडग अणतम।
किरणे ठितिखडाण तमि उ रसकडगसहस्सा ॥१३॥

घाइय ठिईओ दलिय घेत्तु घेत्तु असखगुणणाए।
साहियदुकरणकाल उदयाउ रयइ गुणसेढि ॥१४॥

करणाइए अपुव्वो जो बधो सो न होइ जा अन्नो।
बधगद्धा सा तुल्लिगा उ ठिइकडगद्धाए ॥१५॥

जा करणाईए ठिई करणन्ते तीए होइ सखसो।
अणिअट्टिकरणसओ मुत्तावलिसठिय कुणइ ॥१६॥

एवमनियट्टीकरणे ठितिघायाईणि होति चउरो वि।
सखेज्जसे सेसे पढमठिई अतर च भवे ॥१७॥

अन्तमुहुत्तियमेत्ताइ दोवि निम्मवइ बधगद्धाए।
गुणसेढिसखभाग अन्तरकरणेण उविकरइ ॥१८॥

अतरकरणस्स विहि घेत्तु ठिईउ मज्झाओ।
दलिय पढमठिईए विवइ बीई तहा उवरिमाए ॥१९॥

इगदुगआवलिसेसाइ णत्थि पढमा उदीरणागालो।
पढमठिईए उदीरण बीयाओ एइ आगालो ॥२०॥

आवलिमेत्त उदएण वेइउ ठाइ उवसमद्धाए।
उवसमिय तत्थ भवे सम्मत्त मोक्खबीय ज ॥२१॥

उवरिमठिइ अनुभाग त च तिहा कुणइ चरिममिच्छुदए।
देसघाईण सम्म इयरेण मिच्छमीसाइ ॥२२॥

सम्मे थोवो मीसे असखओ तस्सखओ सम्मे।
पइसमय इय खेवो अन्तमुहुत्ता उ विज्झाओ ॥२३॥

गुणसकमेण एसो सकमो होइ सम्ममीसेसु।
अतरकरणमि ठिओ कुणइ जओ स पसत्थगुणो ॥२४॥

गुणसकमेणसमग तिण्णि थक्कत आउवज्जाण।
मिच्छत्तस्स उ इगिदुगआवलिसेसाए पढमाए ॥२५॥

उवसतद्धाअन्ते विइए ओकड्ढियस्स दलियस्स।
अज्झवसाणविसेसा एकस्सुदओ भवे तिण्ह ॥२६॥

छावलियासेसाए उवसमअद्धाइ जाव इगसमय।
असुभपरिणामओ कोइ जाइ इह सासणत्तापि ॥२७॥

सम्मत्तेण समग सव्व देस च कोइ पडिवज्जे।
उवसतदसणी सो अन्तरकरणं ठिओ जाव ॥२८॥

वेयगसम्मद्दिट्ठि सोही अद्धाए अजयमाईया।
करणदुगेण उवसम चरित्तमोहस्स चेट्ठति ॥२९॥

जाणणगहणणुपालणविरओ विरई अविरओण्णेसु।
आईमकरणदुगेण पडिवज्जइ दोण्हमण्णयर ॥३०॥

उदयावलिए उप्पिं गुणसेढिं कुणइ चरित्तेण।
अन्तो असखगुणणाइ तत्तिय वड्ढई काल ॥३१॥

परिणामपच्चएण गमागम कुणइ करणरहिओवि।
आभोगणट्ठचरणो करणे काऊण पावेइ ॥३२॥

परिणामपच्चएण चउव्विह हाइ वड्ढई वावि।
परिणामवड्ढयाए गुणसेढिं तत्तिय रयइ ॥३३॥

सम्मुप्पायणविहिणा चउगवया सम्मिदिट्ठिपज्जत्ता।
सजोयणा विजोयन्ति न उण पढमट्ठिन्ति करेंति ॥३४॥

उवरिमगे करणदुगे दलिय गुणसकमेण तेसिं तु।
नासेइ तओपच्छा अन्तमुहुत्ता सभावत्थो ॥३५॥

दसणखवणस्सरिहो जिणकालीओ पुमट्ठवासुवरि ।
अणणासकमा करणाइ करिय गुणसकम तहय ॥३६॥

अप्पुव्वकरणसमग गुणउव्वलण करेइ दोण्हपि ।
तक्करणाइ ज त ठिइसत सखभागन्ते ॥३७॥

एव ठिइवधो वि हु पविसइ अणियट्टिकरणसमयमि ।
अप्पुव्व गुणसेढि ठितिरसखडाणि बध च ॥३८॥

देसुवसमणनिकायणनिहत्तिरहिय च होय दिट्ठितिग ।
कमसो असण्णिचउरिदियाइतुल्ल च ठिनिसत ॥३९॥

ठितिखडसहस्साइ एक्केक्के अन्तरमि गच्छन्ति ।
पलिओवम सखसे दसणसते तओ जाए ॥४०॥

सखेज्जा सखिज्जा भागा खण्डइ सहससो तेवि ।
तो मिच्छस्स असखा सखेज्जा सम्ममीसाण ॥४१॥

तत्तो बहुखडते खडइ उदयावलीरहियमिच्छ ।
तत्तो असखभागा सम्मामीसाण खडेइ ॥४२॥

बहुखडते मीस उदयावलिबाहिर खिवइ सम्मे ।
अडवाससतकम्मो दसणमोहस्स सो खवगो ॥४३॥

अन्तमुहुत्तियखड तत्तो उक्किरइ उदयसमयाओ ।
निक्खिवइ असखगुण जा गुणसेढी परिहीण ॥४४॥

उक्किरइ असखगुण जाव दुचरिमति अतिमे खडे ।
सखेज्जसो खडइ गुणसेढीए तहा देइ ॥४५॥

कयकरणो तक्काले कालपि करेइ चउसु वि गइसु ।
बेइयसेसो सेढी अण्णयर वा समारुहइ ॥४६॥

तइय चउत्थे तम्मि व भवमि सिज्झति दसणे खीणे ।
ज देवनरयऽसखाउ चरमदेहेसु ते होति ॥४७॥

अहवा दसणमोह पढम उवसामइत्तु सामण्णे ।
ठिच्चा अणुदइयाण पढमठिई आवली नियमा ॥४८॥

पढमुवसमव सेस अन्तमुहुत्ताउ तस्स विज्झाओ ।
सकेसविसोहिओ पमत्तइयरत्तण बहुसो ॥४९॥

पुणरवि तिन्नि करणाइ करेइ तइयमि एत्थ पुण भेओ ।
अन्तोकोडाकोडी बध सत च सत्तण्ह ॥५०॥

ठिइखड उक्कोसपि तस्स पल्लस्स सखतमभाग ।
ठितिखड बहु सहस्से एक्केक्क ज भणिस्सामो ॥५१॥

करणस्स सखभागे सेसे य असण्णिमाइयाण समो ।
बधो कमेण पल्ल वीसग तीसाण उ दिवड्ढ ॥५२॥

मोहस्स दोण्णि पल्ला सतेवि हु एवमेव अप्पनहू ।
पलियमित्त मि बधे अण्णो सखेज्जगुणहीणो ॥५३॥

एव तीसाण पुणो पल्ल मोहस्स होइ उ दिवड्ढ ।
एव मोहे पल्ल सेसाण पल्लसखसो ॥५४॥

वीसगतीसगमोहाण सतय जहकमेण सखगुण ।
पल्ल असखेज्जसो नामगोयाण तो बधो ॥५५॥

एव तीसाणपि हु एक्कपहारेण मोहणीयस्स ।
तीसगअसखभागो ठितिबधो सतय च भवे ॥५६॥

वीसग असखभागे मोह पच्छा उ घाइ तइयस्स ।
वीसग तओ घाई असखभागम्मि बज्झति ॥५७॥

असखसमयबद्धाणुदीरणा होइ तमि कालम्मि ।
देसघाइरस तो मणपज्जव अन्तरायाण ॥५८॥

लाहोहीण पच्छा भोगअचक्खुसुयाण तो चक्खु ।
परिभोगमइण तो विरियस्स असेढिगा घाई ॥५९॥

मज्झिमयाईण तओ अन्तमुहुत्ताओ उ जाव होइ तु ।
वेयकसाओवसमे मोहयतुल्ला उ पढमट्ठिई ॥६०॥

थीअणुमोहयकाला सखेज्जगुणा उ पुरिसवेयस्स ।
तस्सवि विसेसअहिओ कोहे तत्तोवि जहकमसो ॥६१॥

अन्तरकरणेण सम ठितिखडगबधगद्धनिप्फत्ति ।
अन्तरकरणाणतरसमए जायति सत्त इमे ॥६२॥

एगट्ठाणाणुभागो बधो उदीरणा य सखसमा ।
अणुपुव्वी सकमण लोहस्स असकमो मोहे ॥६३॥

बद्ध बद्ध छसु आवलीसु उवरेणुदीरण एइ ।
पंडगवेउवसमणा असखगुणणाइ जावत ॥६४॥

अतरकरणपविट्ठो सखासखसमोहइयराण ।
बधाउत्तरबधो एव इत्थीए सखसे ॥६५॥

उवसत चाईण सखेज्जसमा परेण सखसो ।
बधो सत्तण्हेव सखेज्जतमसि उवसते ॥६६॥

नामगोयाण सखा बधो वासा असखिया तइए ।
ता सव्वाण वि सखा तत्तो सखेज्जगुणहाणी ॥६७॥

ज समए उवसत छक्क उदयट्ठिई तया सेसा ।
पुरिसे समऊणावलिदुगेण बध अणुवसत ॥६८॥

आगालेण समग पडिग्गहया फिडइ पुरिसवेयस्स ।
सोलसवासिय बधो चरिमो चरिमेण उदएण ॥६९॥

तावइ कालेण चिय पुरिस उवसामए अवेदो तो ।
बधो बत्तीससमा सजलणियराण उ सहस्सा ॥७०॥

अव्वेयपढमसमया कोहतिग आढवेइ उवसमिउ ।
तिसु पडिग्गहया एक्का उदओ य उदीरणा बधो ॥७१॥

फिट्टन्ति आवलीए सेसाए सेसय तु पुरिससम ।
एव सेसकसाया वेयइ थिवुगेण आवलिया ॥७२॥

चरिमुदयम्मि जहन्नो वधो दुगुणो उ होइ उवसमगे ।
तयणतरपगईए चउतग्गुणोण्णेसु सखगुणो ॥७३॥

लोभस्स उ पढमठिइ बिईयठिइओ उ कुणइ तिविभाग ।
दोसु दलणिक्खेवो तइयो पुण किट्टीवेयद्धा ॥७४॥

सताणि बज्झमाणग सरूवओ फड्डगाणि ज कुणइ ।
सा अस्सकण्णकरणद्धा मज्झिमा किट्टिकरणद्धा ॥७५॥

अप्पुव्वविसोहीए अणुभागोणूण विभयण किट्टि ।
पढमसमयमि रसफड्डगवग्गणाणतभाग समा ॥७६॥

सव्वजहन्नगफड्डगअणन्तगुणहाणिया उ ता रसओ ।
पइसमयसखसो आइमसमया उ जावन्तो ॥७७॥

अणुसमयमसखगुण दलियमणन्तसओ उ अणुभागो ।
सव्वेसु मन्दरसमाइयाण दलिय विसेसूण ॥७८॥

आइमसमयकयाण मदाईण रसो अणन्तगुणो ।
सव्वुक्कस्सरसा वि हु उवरिमसमयस्सऽणतसे ॥७९॥

किट्टिकरणद्धाए तिसु आवलियासु समयहीणासु ।
न पडिग्गहया दोण्हवि सट्ठाणे उवसमिज्जति ॥८०॥

लोहस्स अणुवसत किट्टी उदयावली य पुव्वत्त ।
वायरगुणेण समग दोण्णिवि लोभा समुवसन्ता ॥८१॥

सेसद्ध तणुरागो तावइया किट्टिओ उ पढमठिई ।
वज्जिय असखभाग हिट्ठुवरिमुदीरए सेसा ॥८२॥

गेण्हन्तो य मुयन्तो असखभाग तु चरिमसमयमि ।
उवसामिय वीयठिइ उवसत लभइ गुणठाण ॥८३॥

अन्तोमुहुत्तमेत्त तस्सवि सखेज्जभागतुल्लाओ ।
गुणसेढी सव्वद्ध तुला य पएसकालेहिं ॥८४॥

करणाय नोवसत सकमणोवट्टण तु दिट्ठितिग ।
मोत्तुण विलोमेण परिवडई जा पमत्तोत्ति ॥८५॥

ओकड्ढित्ता दलिय पढमठिति कुणइ विइयठिइहिंतो ।
उदयाइ विसेसूण आवलिउप्पि असखगुण ॥८६॥

जावइया गुणसेढी उदयवई तासु हीणग परओ ।
उदयावलीमकाउ गुणसेढि कुणइ इयराण ॥८७॥

सकमउदीरणाण नत्थि विसेसो उ एत्थ पुव्वुत्तो ।
ज जत्थ उ विच्छिन्नं जाय वा होइ त तत्थ ॥८८॥

वेइज्जमाण सजलण कालाओ अहिगमोहगुणसेढी ।
पडिवत्तिकसाउदए तुल्ला सेसेहि कम्मेहिं ॥८९॥

खवगुवसामगपच्चागयाण दुगुणो तहिं तहिं बधो ।
अणुभागोऽणतगुणो असुभाण सुभाण विवरीओ ॥९०॥

परिवाडीए पडिउ पमत्तइयरत्तणे बहू किच्चा ।
देसजई सम्मो वा सासणभाव वए कोई ॥९१॥

उवसमसम्मत्तद्धा अन्तो आउक्खया धुव देवो ।
जेण तिसु आउएसु बद्धेसु न सेढिमारुहई ॥९२॥

सेढिपडिओ तम्हा-छडावलि सासणो वि देवेसु ।
एगभवे दुक्खुत्तो चरित्तमोहं उवसमेज्जा ॥९३॥

दुचरिमसमये नियगोदयस्स इत्थीनपु सगोण्णोण्ण ।
समयित्तु सत्त पच्छा किन्तु नपु सो कमारद्धे ॥९४॥

मूलुत्तरकम्माण पगडिट्ठितिमादि होइ चउभेया ।
देसकरणेहि देस समइ ज देससमणा तो ॥९५॥

उवट्टण ओवट्टण सकमकरणाइ होति नण्णाई ।
देसोवसामियस्सा जा पुव्वो सव्वकम्माण ॥९६॥

खवगो उवसमगो वा पढमकसायणि दसणतिगस्स ।
देसोवसामगो सो अपुव्वकरणतगो जाव ॥९७॥

साइयमाइचउद्धा देसुवसमणा अणाइसतीण ।
मूलुत्तरपगईण साइ अधुवा उ अधुवाओ ॥९८॥

गोयाउयाण दोण्ह चउत्थ छट्ठाण होइ छ सत्तण्ह ।
साइयमाइ चउद्धा सेसाण एगठाणस्स ॥९९॥

उवसामणा ठिइओ उक्कोसा सकमेण तुल्लाओ ।
इयरा वि किन्तु अभव्वउव्वलगअपुव्वकरणेसु ॥१००॥

अणुभाग पएसाण सुभाण जा पुव्व मिच्छ इयराण ।
उक्कोसियर अभविय एगेदि देससमणाए ॥१०१॥

निद्धत्ति—निकाचनाकरण

देसुवसमणा तुल्ला होइ निहत्ती निकायणा नवरि ।
सकमण वि निहत्तीइ नत्थि सव्वाणि इयरीए ॥१०२॥

गुणसेढिपएसग्ग थोव उवसामिय असखगुण ।
एव निहय निकाइय अहापवत्तेण सकत ॥१०३॥

ठिइबधउदीरणतिविहसकमे होतिऽसखगुण कमसो ।
अज्झवसाया एव उवसामणमाइएसु कमा ॥१०४॥

□ □

परिशिष्ट :

उपशमनादि करणत्रय-प्रकरणगत
गाथाओं की अकाराद्यनुक्रमणिका

□

परिशिष्ट : ३

सम्यक्त्वोत्पाद प्ररूपणा का सारांश

करणकृत उपशमना की प्रथम भूमिका सम्यक्त्व प्राप्त करना है। अत-एव सक्षेप मे उसकी प्राप्ति की प्रक्रिया का निरूपण करते हैं।

चारो गति मे वर्तमान सर्वपर्याप्तियो से पर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय जीव उपशम, उपदेश-श्रवण और उपशमन क्रिया के योग्य उत्कृष्ट योग—इन तीन लब्धि युक्त जीव यथाप्रवृत्त आदि तीन करण करके उपशम सम्यक्त्व प्राप्त कर सकते है। परन्तु करण काल के पूर्व भी अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त यह योग्यतायें होती है—

१ ग्रन्थिदेश के निकट आये अभव्य की विशुद्धि की अपेक्षा भी उत्तरोत्तर प्रतिसमय अनन्तगुण प्रवर्धमान विशुद्धि होती है।

२ आयु सिवाय शेष सात कर्मों की अन्त कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थिति सत्ता और अशुभ प्रकृतियो के सत्तागत चतु स्थानगत रस को द्वि-स्थानक एव शुभ प्रकृतियो के सत्तागत द्विस्थानक रस को चतु स्थानक करना है।

३ मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभगज्ञान मे से किसी भी एक साकारोपयोग मे और जघन्य परिणाम से तेजोलेश्या, मध्यम परिणाम से पद्म लेश्या एव उत्कृष्ट परिणाम से शुक्ल लेश्या मे वर्तमान होता है।

४ स्वभूमिकानुसार जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट योग मे वध्यमान प्रकृतियो का स्वभूमिकानुसार क्रमश जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट प्रदेश वध करता है।

५ यदि सम्यक्त्व प्राप्त करने वाले मनुष्य अथवा तिर्यच हो तो सैतालीस ध्रुववधिनी प्रकृति एव सातावेदनीय, हास्य, रति, पुरुषवेद, उच्चगोत्र ये पाच तथा देवद्विक, पचेन्द्रियजाति, वैक्रियद्विक, प्रथम सस्थान, शुभविहायोगति, उच्छ्वास, पराघात और त्रसदशक ये नामकर्म की उन्नीस

इस तरह कुल परावर्तमान चौवीस प्रकृति वाँधता है लेकिन यदि देव और नारक हो तो ध्रुवबधिनी सैंतालीस, सातावेदनीय, हास्य, रति, पुरुषवेद, उच्चगोत्र, ये पाच और मनुष्यद्विक, पचेन्द्रियजाति, औदारिकद्विक, प्रथम सहनन एव सस्थान, शुभविहायोगति, पराघात, उच्छ्वास, और त्रसदशक नामकर्म की ये बीस प्रकृति, इस प्रकार कुल पच्चीस प्रकृति बाधता है। परन्तु सम्यक्त्व प्राप्त करने वाला सातवी पृथ्वी का नारक हो तो वह मिथ्यात्व अवस्था मे मनुष्यद्विक और उच्चगोत्र का वन्ध ही नही करने वाला होने से मनुष्यद्विक और उच्चगोत्र के वदले तिर्यंचद्विक और नीच गोत्र सहित पच्चीस अथवा उद्योत का बन्ध करे तो छब्बीस प्रकृति बाधता है।

आयु का घोलमान परिणामो मे बन्ध होता है, परन्तु यहाँ एक धारा प्रवर्धमान परिणाम होने से आयुकर्म की किसी भी प्रकृति का बन्ध नही होता है।

६ सामान्य से एक अन्तर्मुहूर्त तक समान स्थिति-बन्ध होते रहने से वह एक स्थितिवन्ध कहलाता है और अन्तर्मुहूर्त के वाद सक्लिष्ट या विशुद्ध परिणाम के अनुसार क्रमश अधिक या हीन स्थितिबन्ध होना है परन्तु यहाँ क्रमश प्रवर्धमान विशुद्ध परिणाम होने से पूर्व-पूर्व का स्थितिबन्ध पूर्ण कर उस-उस स्थितिबन्ध की अपेक्षा पल्योपम का असख्यातवाँ भाग न्यून-न्यून नया-नया स्थितिबन्ध करता है।

७ प्रत्येक समय वध्यमान शुभ प्रकृतियो का रस पूर्व-पूर्व के समय से अनन्तगुण अधिक-अधिक और अशुभ प्रकृतियो का अनन्तगुण हीन-हीन वाँधता है।

इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त काल रहने के वाद यथाप्रवृत्त, अपूर्व और अनिवृत्ति यह तीन करण करता है। इनमे से प्रत्येक का काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

यथाप्रवृत्त और अपूर्व इन दोनो करणो मे एक साथ प्रविष्ट जीवो के प्रत्येक समय विशुद्धि मे तरतमता होती है, जिससे प्रत्येक समय त्रिकालवर्ती अनेक जीवो की अपेक्षा असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण प्रवर्धमान-हीयमान अध्यवसाय होते है और इन दोनो करणो के प्रभाव से मोहनीयकर्म का उसी प्रकार का विचित्र क्षयोपशम होता है कि जिससे उत्तर-उत्तर के समय मे अध्यवसाय किंचित् अधिक-अधिक होते हैं और सपूर्ण एक अथवा

दोनो करणो के कुल अध्यवसाय भी असख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होते है, परन्तु एक-एक समयवर्ती असख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण अध्यवसायो की अपेक्षा सम्पूर्ण करणगत अध्यवसायो की सख्या असख्यगुण असख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होती है। सुगम बोध के लिए इस बात को असत्कल्पना से स्पष्ट करते है—

यथाप्रवृत्तकरण—करण काल का अन्तर्मुहूर्त असख्यात समय का होने पर भी असत्कल्पना से पच्चीस समय प्रमाण और प्रथम समय के असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण अध्यवसायो की सख्या एक सौ और उत्तर-उत्तर के समय मे कुछ अधिक-अधिक यानि पाच-पाच अधिक माने तो यथाप्रवृत्तकरण के प्रथम समय मे त्रिकालवर्ती सवजीवो की अपेक्षा एक सौ, दूसरे समय एक सौ पाच, तीसरे समय एक सौ दस अध्यवसाय हो, इस प्रकार उत्तर उत्तर के समय मे पाच-पाच अध्यवसाय अधिक होने से पच्चीस समयात्मक अन्तर्मुहूर्त के चरम समय मे अर्थात् पच्चीसवें समय मे अनेक जीवो की अपेक्षा कुल दो सौ वीस अध्यवसाय होगे।

यहाँ तिर्यग्मुखी और ऊर्ध्वमुखी इस प्रकार दो तरह की विशुद्धि होती है। प्रथम समय के एक सौ अध्यवसाय हैं। उनमे पहला अध्यवसाय सबसे अल्पविशुद्धि वाला और उसकी अपेक्षा सौवा अध्यवसाय अनन्तगुण अधिक विशुद्धि वाला होता है जिससे प्रथमाकवर्ती अध्यवसाय की विशुद्धि की अपेक्षा अन्तिम अध्यवसाय तक के अध्यवसायो मे के कितने ही अध्यवसाय अनन्तभाग अधिक, कितने ही असख्यातभाग अधिक, कितने ही सख्यातभाग अधिक, कितने ही सख्यातगुण अधिक, कितने ही असख्यातगुण अधिक और कितने ही अन्तिम अध्यवसाय अनन्तगुण अधिक विशुद्धि वाले होते है।

इसी प्रकार दूसरे समय के एक से एक सौ पाच तक के जो अध्यवसाय है, उनमे प्रथम अध्यवसाय दूसरे आदि अध्यवसायो से अल्प विशुद्धि वाला है और उसी पहले समय की विशुद्धि की अपेक्षा एक सौ पाचवें अध्यवसाय तक के अध्यवसायो मे कितने ही अध्यवसाय अनन्तभाग अधिक, कितने ही असख्यातभाग अधिक, कितने ही सख्यातभाग अधिक, कितने ही सख्यातगुण अधिक, कितने ही असख्यातगुण और कितने ही अन्तिम अध्यवसाय अनन्तगुण अधिक विशुद्धि वाले होते हैं। इस प्रकार यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय

तक प्रत्येक समय के अध्यवसायो मे सूक्ष्म दृष्टि से असख्यात प्रकार की तरतमता होने पर भी स्थूल दृष्टि से छह-छह प्रकार की तरतमता होती है, यह तिर्यग्मुखी विशुद्धि कहलाती है।

पूर्व-पूर्व समय के अध्यवसायो की विशुद्धि की अपेक्षा उत्तरोत्तर समयो की विशुद्धि भी सामान्य से अनन्तगुण होती है, जिसे ऊर्ध्वमुखी विशुद्धि कहते हैं।

यथाप्रवृत्तकरण मे पूर्व-पूर्व समय के अध्यवसायो से उत्तर-उत्तर के समयो मे समस्त अध्यवसाय नये नही होते हैं। इसी प्रकार पूर्व-पूर्व समय के सभी अध्यवसाय उत्तर-उत्तर के समय मे प्राप्त भी नही होते हैं। परन्तु पूर्व-पूर्व समय के अध्यवसायो मे से प्रारम्भ के अल्प विशुद्धि वाले अल्प-अल्प अध्यवसाय छोडता है और जितने छोडता है, उससे कुछ अधिक सख्या प्रमाण नये-नये अध्यवसाय उत्तर-उत्तर के समय के होते है। जो इस प्रकार है—

प्रथम समय के जो एक सौ अध्यवसाय है, उनमे से एक से बीस तक के अध्यवसाय छोडकर शेप प्रथम समय के जो इक्कीस से सौ तक के कुल अस्सी और पच्चीस उनसे अधिक विशुद्धि वाले नवीन—इस तरह कुल एक सौ पाच अध्यवसाय दूसरे समय मे होते हैं। उनमे से प्रथम समय के इक्कीस से चालीस तक के बीस अध्यवसाय छोडकर शेष प्रथम समय के साठ और पचास नये इस प्रकार एक सौ दस अध्यवसाय तीसरे समय मे होते हैं। उनमे से प्रथम समय के इकतालीस से साठ तक के बीस अध्यवसाय छोडकर शेप प्रथम समय के चालीस और पचहत्तर नये इस तरह कुल एक सौ पन्द्रह अध्यवसाय चौथे समय मे होते हैं और उनमे से भी प्रथम समय के इकसठ से अस्सी तक के बीस अध्यवसाय छोडकर शेप प्रथम समय के इक्यासी से सौ तक के बीस अध्यवसाय और एक सौ नये, इस तरह कुल एक सौ बीस अध्यवसाय पाचवें समय मे होते हैं।

अर्थात् पच्चीस समयात्मक यथाप्रवृत्तकरण के पाच-पाच समय प्रमाण पाच भाग करें। तो प्रथम समय के अध्यवसाय पाँच समय स्वरूप यथाप्रवृत्तकरण के प्रथम सख्यातवे भाग के चरम समय रूप पाचवें समय तक होते हैं। दूसरे समय के छठे समय तक, तीसरे समय के सातवें समय तक, चौथे के आठवें समय तक, पाचवें के नौवें समय तक, छठे के दसवें समय तक

इस तरह यावत् इक्कीसवे समय के अध्यवसायो मे के अमुक अध्यवसाय यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय रूप पच्चीसवें समय तक होते है। जिससे यथाप्रवृत्तकरण के प्रथम समय की जघन्य विशुद्धि से यथाप्रवृत्तकरण के प्रथम पाच समय स्वरूप सख्यातवे भाग मे के चरम समय रूप पाचवे समय तक दूसरे, तीसरे, चौथे और पाचवे समय के अध्यवसायस्थान की जघन्य विशुद्धि क्रमश एक-एक से अनन्तगुण अधिक होती है, वह पाचवे समय के अध्यवसाय की जघन्य विशुद्धि से प्रथम समय के अध्यवसाय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुण होती है।

उससे सख्यात भाग स्वरूप पाच समय से ऊपर के छठे समय की जघन्य विशुद्धि अनन्तगुण, उससे आदि के दूसरे समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुण होती है। उससे सख्यात भाग के ऊपर के दूसरे अर्थात् सातवे समय की जघन्य विशुद्धि अनन्तगुण, उससे आदि के तीसरे समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुण होती है, इस प्रकार ऊपर-ऊपर के एक-एक समय की जघन्य और प्रारम्भ के ऊपर-ऊपर के एक-एक समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनुक्रम से अनन्तगुण अधिक-अधिक होने से बीसवे समय की उत्कृष्ट विशुद्धि से यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय रूप पच्चीसवें समय की जघन्य विशुद्धि अनन्तगुण होती है। यहाँ पर समस्त समयो के अध्यवसाय-स्थानो की जघन्य विशुद्धि पूर्ण होती है परन्तु अन्तिम ऊपर के इक्कीस से पच्चीस तक के पाच समय रूप अन्तिम सख्यात भाग के समय प्रमाण अध्यवसायो की उत्कृष्ट विशुद्धि शेष रहती है, इसलिये पच्चीसवे समय की जघन्य विशुद्धि से चरम सख्यातवें भाग के प्रथम समय की अर्थात् इक्कीसवे समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुण, उससे बाईस, तेईस, चौबीस और पच्चीसवे समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनुक्रम से एक-एक से अनन्तगुण होती है।

इस प्रकार नदीगोल-पाषाण के न्याय से तथा भव्यत्व भाव के परिपाक के वश भव्य एव अभव्य भी अनेक बार यथाप्रवृत्तकरण करके ग्रन्थिदेश तक आते है और अभव्य जीव मोक्ष की श्रद्धा बिना सासारिक सुखो की इच्छा से द्रव्यचारित्र ग्रहण कर श्रुत सामायिक का लाभ प्राप्त कर नौवें ग्रैवेयक तक उत्पन्न होते है, परन्तु सम्यक्त्व आदि शेष तीन सामायिक प्राप्त नही करते है, तथा उन अभव्य जीवो का एव अन्तर्मुहूर्त मे समयक्त्व प्राप्त न करने

वाले भव्य जीवो के यथाप्रवृत्तकरण की अपेक्षा यह यथाप्रवृत्तकरण विलक्षण है, जिससे अन्तर्मुहूर्त मे सम्यक्त्व प्राप्त करने वाले भव्य जीव यथाप्रवृत्तकरण के बाद तत्काल ही अपूर्वकरण करता है। जिसका स्वरूप इस प्रकार है—
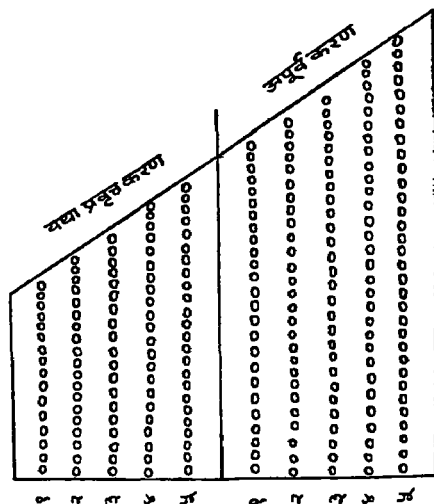
अपूर्वकरण—इस करण मे यथाप्रवृत्तकरण के समान प्रत्येक समय असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण और पूर्व-पूर्व समय से उत्तर-उत्तर के समय मे कुछ अधिक-अधिक अध्यवसाय होते है। इसलिए यहाँ भी तिर्यग्मुखी और ऊर्ध्वमुखी इस तरह दो प्रकार की विशुद्धि होती है। जिनका स्वरूप यथाप्रवृत्तकरण मे कहे गये अनुरूप जानना चाहिए। परन्तु यथाप्रवृत्तकरण मे पूर्व-पूर्व समय के अमुक-अमुक अध्यवसाय जैसे उत्तरोत्तर के समय मे होते हैं, उसी प्रकार से इस करण मे नही होते हैं, परन्तु पूर्व-पूर्व के समय से उत्तरोत्तर समय मे सभी अध्यवसाय नवीन ही होते हैं। जिससे अपूर्वकरण के प्रथम समय मे जो एक सौ अध्यवसाय होते हैं उनसे नितान्त भिन्न और अनन्तगुण विशुद्धि वाले दूसरे समय मे एक सौ पाच, उनसे नितान्त भिन्न अनन्तगुण विशुद्धि वाले तीसरे समय मे एक सौ दस, चौथे समय मे एक सौ पन्द्रह, पाचवें समय मे एक सौ बीस इस प्रकार यावत्

है कि अपूर्वकरण मे हजारो स्थितिघात होते हैं और इन एक-एक स्थिति-घात मे हजारो रसघात होते है।

गुणश्रेणि मे प्रथम समय से अपवर्तनाकरण द्वारा स्थितिघात कर जिन-जिन स्थितियो का नाश करता है, उन स्थितिस्थानो मे रहे हुए दलिक शीघ्र क्षय करने के लिए प्रत्येक समय मे असख्यात गुणाकार रूप से ऊपर से नीचे उतारे जाते हैं और जिस-जिस समय जितने-जितने दलिक उतारे जाते है, उन-उन दलिको को उसी समय रसोदयवाली प्रकृतियो मे उदय समय से लेकर और अनुदित सत्तागत प्रकृतियो मे उदयावलिका से ऊपर के प्रथम समय से लेकर अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण के काल से कुछ अधिक काल तक के प्रत्येक समय मे पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर ऊपर-ऊपर के समय मे असख्यात गुणाकार रूप से स्थापित किया जाता है, अर्थात् बधादि के समय मे हुई निषेक रचना के दलिको के साथ भोगने योग्य किये जाते है।

अपूर्व स्थितिबध मे जो नवीन स्थितिबध होता है वह पूर्व स्थिति-बध की अपेक्षा पल्योपम के सख्यातवे भाग न्यून होता है। इस प्रकार से अपूर्वकरण के चरम समय पर्यन्त होता है।

स्थितिघात और स्थितिबध एक साथ प्रारम्भ होते है और साथ ही पूर्ण होते हैं। अर्थात् एक स्थितिघात और एक स्थितिबध का काल समान है। इसलिये अपूर्वकरण मे जितने स्थितिघात होते है, उतने ही अपूर्व स्थितिबध भी होते हैं।

अनिवृत्तिकरण—इस करण मे एक साथ प्रवेश करने वाले जीवो के किसी भी एक समय मे अध्यवसायो मे फेरफार नही होता है, जिससे त्रिकालवर्ती अनेक जीवो की अपेक्षा भी विवक्षित एक-एक समय मे समान अध्यवसाय होने मे एक-एक अध्यवसाय ही होता है। अतएव इस करण मे जितने समय होते हैं उतने ही अध्यवसायस्थान होते है। इस कारण इन अध्यवसायो की आकृति मोतियो की माला के समान होती है।
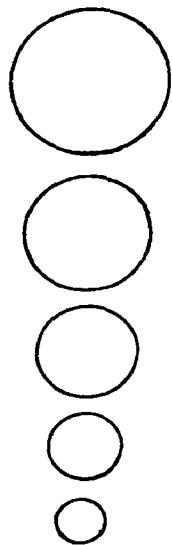
अनि. करण के अध्यवसाय स्थान

इस करण मे तिर्यग्मुखी विशुद्धि नही होती है परन्तु पूर्व-पूर्व समय के अध्यवसाय की विशुद्धि की अपेक्षा उत्तरोत्तर समय के अध्यवसाय की विशुद्धि अनन्तगुण होती है और इस करण मे भी अपूर्वकरणवत् स्थितिघात आदि चार पदार्थ प्रवर्तमान रहते है।

इस अनिवृत्तिकरण के अन्तर्मुहूर्त काल के असत् कल्पना से सौ समय मानें और उनके दस-दस समय के दस भाग की कल्पना करके बहुत से सख्यात भाग अर्थात् नव्वै समय प्रमाण नौ भाग जितना काल जाये और दस समय प्रमाण एक सख्यातवाँ भाग जितना काल शेप रहे तब सत्ता मे विद्यमान जो मिथ्यात्व की स्थिति है उसको उदय-समय से अर्थात् इक्यानवैवे समय से लेकर अनिवृत्तिकरण के शेप रहे सख्यातवे भाग प्रमाण अर्थात् इक्यानवै से सौ तक के दस समय प्रमाण नीचे रख उसके (सौ समय के) ऊपर एक अन्तर्मुहूर्त काल मे भोगने योग्य मिथ्यात्व के दलिको को वहाँ से दूर करने की क्रिया शुरू करता है जिसे अन्तरकरण की क्रिया कहते है।

इस क्रिया द्वारा अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थान मे से मिथ्यात्व के दलिक हटाकर अर्थात् दूर कर नीचे और ऊपर इस तरह दोनो ओर डालकर वह अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थान विशेष रूप से मिथ्यात्व के दलिक विना का करता है। उन अन्तरकरण के दलिको के साथ गुणश्रेणि का भी ऊपर का सख्यातवा भाग छिन्न-भिन्न होकर दूर हो जाता है। जिस समय से अन्तरकरण क्रिया प्रारम्भ करता है उस समय से मिथ्यात्व की गुणश्रेणि अनिवृत्तिकरण के चरम तक ही होती है, परन्तु उसके उपर के समयो मे नही होती है और अन्तरकरण क्रिया समाप्त होने के वाद के समय से द्वितीय स्थितिगत मिथ्यात्व के दलिको को असख्यात गुणाकार रूप से उपशमित करते अन्तमुहूर्त मे सम्पूर्ण उपशान्त करता है।

अन्तरकरण क्रिया काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होने पर भी वह काल अनिवृत्तिकरण के शेप रहे सख्यातवे भाग की अपेक्षा भी अत्यल्प होता है। जिससे अन्तरकरण की क्रिया पूर्ण होने के वाद भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण अनिवृत्तिकरण का काल बाकी रहता है। जितने काल मे एक स्थितिघात करता है उतने ही काल मे अन्तरकरण की क्रिया भी करता है। जिससे अन्तरकरण क्रिया का अन्तर्मुहूर्त आवलिका के एक सख्यातवें भाग जितना छोटा (हीन) होता है। अन्तरकरण क्रिया पूर्ण होने के वाद अन्तरकरण किया

गया होने से सत्तागत मिथ्यात्व की स्थिति के दो भाग हो जाते हैं। उनमे एक अन्तर्मुहूर्त प्रमाण अन्तरकरण की नीचे की स्थिति को छोटी अथवा प्रथम स्थिति और दूसरी सत्तागत सम्पूर्ण स्थिति प्रमाण अन्तरकरण की ऊपर की स्थिति को बडी अथवा दूसरी स्थिति कहते हैं।

अनिवृत्तिकरण की अथवा मिथ्यात्व की प्रथम स्थिति दो आवलिका प्रमाण रहे तब मिथ्यात्व की गुणश्रेणि होना रुक जाता है और एक आवलिका शेष रहे तब स्थितिघात और रसघात होना भी रुक जाता है। अर्थात् उस समय से मिथ्यात्व का स्थितिघात और रसघात नही होना है एव मिथ्यात्व की प्रथम स्थिति दो आवलिका प्रमाण शेष रहे तब अन्तरकरण के ऊपर रहे मिथ्यात्व के दलिको को उदीरणा प्रयोग द्वारा उदयावलिका मे प्रक्षिप्त कर उदयावलिका मे वर्तमान दलिको के साथ भोगने योग्य नही करता जिससे आगाल का विच्छेद होता है और प्रथम स्थिति की एक आवलिका शेष रहे तब उदीरणा का भी विच्छेद होता है।

जब-जब जिन-जिन प्रकृतियो का अन्तरकरण होता है तब अन्तरकरण होने के पश्चात् उदीरणा प्रयोग द्वारा अन्तरकरण की ऊपर की स्थिति मे से दलिको को उदयावलिका मे प्रक्षिप्त कर उदयप्राप्त दलिको के साथ भोगने योग्य करता है। इस उदीरणा का ही पूर्व पुरुषो ने आगाल ऐसा विशेष नामकरण किया है।

अनिवृत्तिकरण की समाप्ति के साथ ही अन्तरकरण के नीचे की मिथ्यात्व की छोटी स्थिति भी भोगी जाकर सत्ता मे से पूर्णरूपेण नष्ट हो जाती है जिससे अनिवृत्तिकरण की समाप्ति के बाद के प्रथम समय मे ही आत्मा अन्तरकरण मे प्रवेश करती है और उस अन्तरकरण मे मिथ्यात्व के दलिक न होने से वजर भूमि को प्राप्त कर जैसे दावानल भी बुझ जाता है, उसी प्रकार अन्तरकरण रूप वजर भूमि को प्राप्त कर अनादि-कालीन मिथ्यात्व रूप दावानल भी बुझ जाता है। जिससे अन्तरकरण मे प्रथम समय मे ही आत्मा पूर्व मे किसी भी समय प्राप्त नही किये मोक्ष रूपी वृक्ष के बीज समान अपूर्व आत्महित स्वरूप उपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति करती है और उसी अन्तरकरण मे उपशम सम्यक्त्व के साथ कोई आत्मा देशविरति अथवा सर्वविरति भी प्राप्त करती है।

अनिवृत्तिकरण के चरम समयवर्ती यानि मिथ्यात्व की प्रथम स्थिति के चरम समयवर्ती मिथ्यादृष्टि अथवा उपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति के प्रथम समय मे अन्तरकरण की ऊपर की स्थिति मे विद्यमान सत्तागत मिथ्यात्व के दलिको को रस के भेद से तीन प्रकार के करता है। कितने ही दलिको को एकस्थानिक और जघन्य द्विस्थानिक रस वाले वाले कर शुद्ध पुजरूप बनाता है जो सम्यक्त्वमोहनीय और देशघाति कहलाता है। कितने ही दलिको को द्विस्थानिक रस वाले बनाकर अर्ध शुद्ध पुज रूप करता है, जो मिश्रमोहनीय और सर्वघाति कहलाते है और उनके सिवाय शेप दलिक उत्कृष्ट द्विस्थानक, त्रिस्थानक और चतु स्थानक रस वाले होते है, जो अशुद्ध पुज रूप मिथ्यात्वमोहनीय और सर्वघाति है।

अन्तरकरण के प्रथम समय से अन्तरकरण के अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल से सख्यातवे भाग प्रमाण अन्तर्मुहूर्त तक प्रत्येक समय मिथ्यात्व के दलिको को गुणसक्रम द्वारा सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय मे अनुक्रम से उन सख्यात गुणाकार रूप से सक्रमित करता है। उसमे प्रथम समय सम्यक्त्वमोहनीय मे अल्प और मिश्रमोहनीय मे उससे असख्यातगुण सक्रमित करता हे। प्रथम समय मे मिश्रमोहनीय मे जितने सक्रमित करता है, उससे दूसरे समय मे सम्यक्त्वमोहनीय मे असख्यातगुण और उससे उसी दूसरे समय मे मिश्रमोहनीय मे असख्यातगुण सक्रमित करता है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व के समय मे मिश्रमोहनीय मे जितने सक्रमित करता है, उससे उत्तर-उत्तर के समय मे सम्यक्त्वमोहनीय मे और मिश्र-मोहनीय मे अनुक्रम से एक-एक से असख्यातगुण सक्रमित करता हे। मिथ्यात्व की तरह मिश्र को भी असख्यात गुणाकार रूप से सम्यक्त्व-मोहनीय मे सक्रमित करता हे।

इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त तक गुणसक्रम होता है। उसके बाद अन्तरकरण के शेप रहे अन्तर्मुहूर्त प्रमाण शेप काल मे मिथ्यात्व और मिश्र मोहनीय का विध्यात सक्रम होता है। जब तक इन दो प्रकृतियो का गुणसक्रम होता है, तब तक समय-समय अनन्तगुण विशुद्ध परिणाम होने से मिथ्यात्व रहित शेप सत्ता मे विद्यमान कर्म प्रकृतियो का स्थितिघात, रसघात और गुणश्रेणि होती हे और गुणसक्रम के साथ स्थितिघातादि भी विच्छिन्न होते हैं।

इस अन्तरकरण का कुछ अधिक आवलिका प्रमाण काल शेप रहे तब

अन्तरकरण की ऊपर की स्थिति मे से दर्शनमोहनीयत्रिक के दलिक उतार कर अन्तरकरण के अन्दर अन्तिम एक आवलिका जितने काल मे प्रथम समय मे प्रभूत और उसके बाद के उत्तर-उत्तर समयो मे विशेप हीन-हीन दलिक स्थापित करता है और अध्यवसायानुसार तीन मे से किसी भी पुज का उदय करता है जिससे यदि सम्यक्त्वमोहनीय का उदय हो तो आत्मा क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि, मिश्रमोहनीय का उदय हो तो मिश्रदृष्टि और मिथ्यात्वमोहनीय का उदय हो तो मिथ्यादृष्टि होती है, परन्तु अन्तरकरण का जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह आवलिका प्रमाण काल शप रहे तव किसी आत्मा को अनन्तानुवधि कपाय का उदय हो तो वह आत्मा सामादन सम्यक्त्व प्राप्त कर अन्तरकरण जितना काल रहे, उतने काल तक सासादन भाव मे रह वाद मे अवश्य मिथ्यात्व गुणस्थान मे जाती है ।

अन्तरकरण मे जिस आत्मा को अनन्तानुबधि कषाय का उदय होता है, वह आत्मा अन्तरकरण का कुछ अधिक आवलिका काल बाकी रहे तव अन्तरकरण की ऊपर की स्थिति मे से दलिक अन्तरकरण मे लाकर आवलिका प्रमाण काल मे क्रमबद्ध स्थापित नही करती है। क्योकि अन्तरकरण के अन्दर किसी पुज का उदय नही होता है और अन्तरकरण पूर्ण होने के वाद तीनो पुज तैयार होने से उनमे से मिथ्यात्व का ही उदय होता है। यह अन्तरकरण का काल मिथ्यात्व की प्रथम स्थिति के अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल से बहुत अधिक होता है। □

परिशिष्ट ४

अनन्तानुबन्धि की विसंयोजना एवं उपशमना सम्बन्धी विधि

पंचसंग्रहकार एवं कर्मप्रकृतिकार आदि कतिपय आचार्यों का मंतव्य है कि उपशम श्रेणि करने वाले जीवों को पहले अनन्तानुबंधि की विसंयोजना होती है, उपशमना नहीं होती। परन्तु कुछ आचार्यों का मत है—अनन्तानुबंधि की उपशमना करके भी उपशम श्रेणि हो सकती है। इस प्रकार से अनन्तानुबंधि कषाय के विषय में दो दृष्टिकोण हैं। जिनका यथाक्रम से स्पष्टीकरण करते हैं।

अनन्तानुबंधि की विसंयोजना

चारों गति के सर्वपर्याप्तियों से पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय क्षयोपशम सम्यक्त्वी यथासम्भव चौथे से सातवें गुणस्थान तक के जीव उपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति में बताये गये यथाप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण करते हैं। परन्तु यहाँ अनन्तानुबंधि का बंधन होने से अपूर्वकरण के प्रथम समय से अनन्तानुबंधिकषायचतुष्क का उद्वलनानुविद्ध गुणसंक्रम प्रारम्भ होता है। जिसमें बध्यमान शेष मोहनीय कर्म की प्रकृतियों में प्रतिसमय असंख्यात गुणाकार रूप से अनन्तानुबंधि के दलिकों का संक्रम होता है तथा अनन्तानुबंधि का उपशम नहीं होने से उनका अन्तरकरण नहीं होता है एवं अन्तरकरण के अभाव में अन्तरकरण की प्रथम और द्वितीय इन तरह दो स्थितियाँ भी नहीं होती हैं परन्तु अनिवृत्तिकरण के काल का एक संख्यातवां भाग शेष रहे तब नीचे तक उदयावलिका को छोड़कर उसके सिवाय सम्पूर्ण अनन्तानुबंधि का क्षय हो जाता है और शेष रही उदयावलिका को भी स्तिबुक संक्रम द्वारा वेद्यमान मोहनीय कर्म की प्रकृतियों में संक्रमित कर अनन्तानुबंधि की सत्ता रहित होता है।

तदनन्तर अन्तर्मुहूर्त के वाद अनिवृत्तिकरण के अन्त मे शेष कर्मों का भी स्थितिघात, रसघात एव गुणश्रेणि होना बन्द हो जाता हे जिससे आत्मा स्वभावस्थ होती है।

यह अनन्तानुबधिकषायचतुष्क की विसयोजना का रूपक है। अव उपशमना विधि का निर्देश करते है।

अनन्तानुबधि की उपशमना

क्षयोपशम सम्यक्त्वी चौथे से सातवे तक चार मे किसी भी गुणस्थान मे वर्तमान मनुष्य उपशमसम्यक्त्व की प्राप्ति के प्रसग मे वताये गये अनुसार करण काल के पूर्व अन्तर्मुहूर्त तक योग्यताये प्राप्त करने के वाद यथाप्रवृत्त आदि तीन करण करता हे, परन्तु यहाँ अनन्तानुबन्धि का वधन होने से अपूर्वकरण के प्रथम समय से गुणसक्रम भी होता है तथा अनिवृत्तिकरण के सख्यात भाग जायें और एक भाग शेप रहे तव अनन्तानुवधि का उदय न होने से एक उदयावलिका प्रमाण स्थिति शेष रखकर उसके ऊपर एक स्थितिबध के काल प्रमाण अन्तर्मुहूर्तकाल मे अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थान मे से अनन्तानुबधि के दलिक दूर करन की क्रिया करता है। अर्थात् अन्तर्मुहूर्त मे भोगने योग्य अनन्तानुवधि के दलिको को वहाँ से लेकर वध्यमान स्वजातीय प्रकृतियो मे सक्रमित करता है और उतना स्थान दलिक रहित करता है तथा उदयावलिका प्रमाण प्रथम स्थिति को वेद्यमान प्रकृतियो मे स्तिबुक सक्रम द्वारा सक्रमित कर सत्ता मे से क्षय करता है।

जिस समय अन्तरकरण की क्रिया पूर्ण होती है, उसके बाद के समय से द्वितीय स्थिति मे विद्यमान सत्तागत अनन्तानुवधि के दलिको को प्रत्येक समय असख्यातगुण उपशमित करते अन्तर्मुहूर्तकाल मे सम्पूर्ण उपशात करता है जिससे अन्तर्मुहूर्त प्रमाण उपशातता के काल मे सक्रमण, उद्वर्तना, अपवर्तना, उदीरणा, निधत्ति और निकाचना इन छह मे से कोई भी करण नही लगता है एव प्रदेशोदय या रसोदय भी नही होता है। □

परिशिष्ट : ५

दर्शनत्रिक की उपशमना विधि

वैमानिक देव की आयु बाधने के बाद यदि क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करे तो उपशम श्रेणी कर सकता है और जिसने वैमानिक देव की आयु का बध कर लिया है अथवा किसी भी गतिप्रायोग आयु को बाधे बिना क्षयोपशम सम्यक्त्वी उपशम श्रेणि कर सकता है परन्तु अन्य जीव नही कर सकते हैं और यदि क्षयोपशम सम्यक्त्वी उपशम श्रेणि करे तो चारित्र-मोहनीय का उपशम करने से पूर्व चौथे से सातवें तक चार मे से किसी भी गुणस्थान मे वर्तमान जीव पहले अनन्तानुबधि की विसयोजना अथवा मतान्तर से उपशमना करके भी छठे अथवा सातवें गुणस्थान मे दर्शनत्रिक की उपशमना करते हैं।

दर्शनत्रिक की उपशमना करने पर भी यथाप्रवृत्त आदि तीन करण करते हैं। अपूर्वकरण के प्रथम समय से मिथ्यात्व और मिश्र मोहनीय का सम्यक्त्वमोहनीय मे गुणसक्रम भी प्रवर्तित होता है और अनिवृत्तिकरण के सख्यात भाग जायें और एक भाग शेष रहे तब तीनो दर्शनमोहनीय का अन्तरकरण करते हैं परन्तु अनुदित मिथ्यात्व और मिश्र मोहनीय की प्रथम स्थिति आवलिका प्रमाण और उदयप्राप्त सम्यक्त्वमोहनीय की प्रथम स्थिति शेष रहे अनिवृत्तिकरण के सख्यात भाग जितने अन्तर्मुहूर्त प्रमाण करते हैं।

मिथ्यात्व तथा मिश्र मोहनीय की आवलिका प्रमाण प्रथम स्थिति स्तिबुक सक्रम मे सम्यक्त्वमोहनीय मे सक्रमित कर और सम्यक्त्वमोहनीय की प्रथम स्थिति रसोदय मे अनुभव कर सत्ता मे से नष्ट करते है। तीनो प्रकृतियो के अन्तरकरण मे रहे हुए दलिको को वहा से दूर कर सम्यक्त्व की प्रथम स्थिति मे प्रक्षिप्त कर भोग कर क्षय करते हैं एव तीनो के द्वितीय (अन्तरकरण की ऊपर की) स्थिति मे वर्तमान दलिको को असख्यात

गुणाकार रूप से उपशमित करते है और अपूर्वकरण के प्रथम समय से मिथ्यात्व और मिश्र मोहनीय का जो गुणसक्रम प्रारम्भ हुआ था वह अन्तरकरण मे प्रवेश करने के वाद भी अन्तमुहूर्त तक चालू रहता है। तत्पश्चात् अन्तरकरण मे ही इन दोनो प्रकृतियो का विध्यात सक्रम आरम्भ होता है और शेप सर्व स्वरूप पहले की तरह ही समझना चाहिये।

इस प्रकार दर्शनत्रिक की उपशमना करके उपशम सम्यक्त्वी अथवा क्षायिक सम्यक्त्वी चारित्रमोहनीय को उपशमित करने का प्रयत्न करते हैं।

□□

इस प्रकार अपूर्वकरण मे स्थितिघात आदि पदार्थ प्रवर्तित होते हैं जिससे अपूर्वकरण के प्रथम समय मे आयु के बिना शेष कर्मो की जितनी स्थितिसत्ता और जितना नवीन स्थितिबध होता है, उसकी अपेक्षा इस करण के चरम समय मे सख्यातगुण हीन अर्थात् सख्यातभाग प्रमाण स्थितिसत्ता और नवीन स्थितिबध होता है।

इसी प्रकार अनिवृत्तिकरण मे भी स्थितिघात आदि पदार्थ प्रवर्तित होते है। परन्तु इस करण से दर्शनत्रिक का सम्पूर्ण क्षय करना प्रारम्भ होने से इन तीनो प्रकृतियो के स्थितिघात आदि अत्यधिक वृहत् प्रमाण मे होते है, एव अनिवृत्तिकरण के प्रथम समय मे दर्शनत्रिक मे देशोपशमना, निद्धत्ति और निकाचना इन तीन मे से कोई भी करण नही लगते हैं, अर्थात् दर्शनत्रिक के सत्तागत दलिको मे इस करण के प्रथम समय से देशोपशमना, निद्धत्ति तथा निकाचना नही होती है।

इस करण मे हजारो स्थितिघात व्यतीत होने के बाद असज्ञी पचेन्द्रिय की स्थितिसत्ता जितनी दर्शनत्रिक की सत्ता रहती है। तत्पश्चात पुन पुन हजारो स्थितिघात होने के बाद क्रमश चतुरिन्द्रिय जीवो जितनी, त्रीन्द्रिय जीवो के बराबर, द्वीन्द्रिय जीवो के बराबर और उसके बाद पुन हजारो स्थितिघात होने के अनन्तर पल्योपम के सख्यातवे भाग प्रमाण दर्शनत्रिक की स्थितिसत्ता रहती है।

तत्पश्चात दर्शनत्रिक की जितनी स्थितिसत्ता है उसके सख्यात भाग करके एक सख्यातवा भाग शेष रख बाकी के सख्यात भागो का नाश करता है। पुन शेष रहे सख्यातवे भाग के सख्यात भाग कर एक सख्यातवाँ भाग रख शेष समस्त भागो का नाश करता है। इस प्रकार बाकी रहे हुए सख्यातवें भाग के हजारो बार सख्यात-सख्यात भाग करके और एक-एक सख्यातवाँ भाग रख शेष सभी सख्यात भागो का नाश करता है।

इस तरह से हजारो स्थितिघात जाने के बाद मिथ्यात्वमोहनीय की जो स्थितिसत्ता है उसके असख्यात भाग करके उनमे से एक असख्यातवाँ भाग रख शेष सभी असख्यात भागो का नाश करता है। पुन शेष रहे एक असख्यातवें भाग के असख्यात भाग कर एक असख्यातवाँ भाग बाकी रख शेष समस्त असख्यात भागो का नाश करता है। इस प्रकार शेष रहे मिथ्यात्व के एक-एक असख्यातवें भाग के असख्यात-असख्यात भाग कर और उनमे से एक-एक

असख्यातवा भाग बाकी रख शेप सभी असख्यात भागो का नाश करता है। इस तरह बहुत से स्थितिघात होने से मिथ्यात्व की स्थिति मात्र एक उदयावलिका प्रमाण रहती है और शेप सभी का नाश हो जाता है।

जिस समय से सत्तागत मिथ्यात्व की स्थिति के असख्यात भाग कर एक असख्यातवाँ भाग रख असख्यात-असख्यात भागो का नाश करने की शुरुआत की उस समय से मिश्र और सम्यक्त्व मोहनीय की सत्तागत स्थिति के सख्यात भाग कर एक-एक सख्यातवाँ भाग रख शेप सभी सख्यात भागो का नाश करता है। इस प्रकार मिश्र तथा सम्यक्त्व मोहनीय के भी बहुत से स्थितिघात व्यतीत होते है और जब मिथ्यात्व की स्थिति उदयावलिका प्रमाण रहती है तब मिश्र और सम्यक्त्व मोहनीय की पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण स्थितिसत्ता रहती है।

द्विचरम स्थिति खड तक स्थितिघात से उतारे हुए मिथ्यात्व के दलिको को नीचे स्व मे और मिश्र एव इसी प्रकार सम्यक्त्व मे तथा मिश्र मोहनीय के स्थितिघात से उतारे गये दलिको को स्व मे और सम्यक्त्व मे रखता है एव चरम स्थितिघात से उतारे हुए मिथ्यात्व के दलिको को मिश्र तथा सम्यक्त्व मोहनीय मे और मिश्रमोहनीय के दलिको को सम्यक्त्वमोहनीय मे डालता है तथा सम्यक्त्वमोहनीय के दलिको को अपने उदय-समय से गुणश्रेणि के क्रम से स्थापित करता है।

मिथ्यात्व की उदयावलिका को स्तिबुकसक्रम द्वारा सम्यक्त्वमोहनीय मे सक्रमित करके और भोग कर मिथ्यात्व की स्थिति का सपूर्ण नाश करता है।

जिस समय मिथ्यात्वमोहनीय की मात्र उदयावलिका जितनी स्थिति रहती है, उस समय से सत्तागत मिश्र और सम्यक्त्व मोहनीय की स्थिति के असख्यात भाग कर एक असख्यातवाँ भाग रख शेष सभी असख्यात भागो का नाश करता है और बाकी रहे एक असख्यातवे भाग के बार बार असख्यात भाग कर तथा एक-एक असख्यातवाँ भाग रख शेप असख्यात भागो का नाश कर-कर के बहुत से स्थितिघात होने के बाद मिश्रमोहनीय की स्थितिसत्ता उदयावलिका प्रमाण रखता है और उस उदयावलिका को भी स्तिबुकसक्रमण से सम्यक्त्वमोहनीय मे सक्रमित करके सत्ता मे से दूर करता है।

जिस समय मिश्र मोहनीय की उदयावलिका बाकी रहती है, उस समय सम्यक्त्वमोहनीय की स्थिति सत्ता आठ वर्ष प्रमाण रहती है। उस समय से उस आत्मा के विघ्नरूप सवघाती मिथ्यात्व और मिश्र का सर्वथा क्षय हुआ है और सम्यक्त्वमोहनीय का भी अन्तर्मुहूर्त मे अवश्य क्षय होने वाला होने से निश्चय नय के मत अनुसार वह आत्मा दर्शनमोह की क्षपक कहलाती है। जिस समय सम्यक्त्वमोहनोय की आठ वर्ष प्रमाण स्थितिसत्ता रहती है, उस समय से सम्यक्त्वमोहनीय के द्विचरम स्थितखड तक अन्तर्मुहूर्त मे अन्तर्मुहूर्त-अन्तर्मुहूर्त प्रमाण वाले अनेक स्थितिखड उत्कीर्ण कर-करके नाश करता है।

ये प्रत्येक स्थितिखड अन्तर्मुहूर्त प्रमाण वाले होने पर भी अन्तर्मुहूर्त के असख्यात प्रकार होने से पहले स्थितिखड की अपेक्षा दूसरा स्थितिखण्ड असख्यातगुण वडा अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होता है। इस प्रकार द्विचरम स्थितिखड तक समस्त स्थितिखड पूर्व-पूर्व के स्थितिखण्ड की अपेक्षा असख्यात बडे-बडे अन्तर्मुहूर्त प्रमाण वाले होते हैं।

प्रत्येक स्थितिखण्ड के दलिको को नीचे उतार कर उदयसमय से गुणश्रेणि के चरम समय तक पूर्व-पूर्व के समय से उत्तरोत्तरवर्ती समयो मे असख्यात गुणाकार रूप से स्थापित करता है और गुणश्रेणि के चरम समय ऊपर के प्रथम समय से जिन स्थितिखण्डो का घात करता है, उनके नीचे के चरम स्थितिस्थान तक विशेष हीन-हीन स्थापित करता है, परन्तु जिस स्थितिखण्ड का घात करता है, उन स्थितिस्थानो मे स्थापित नही करता है।

द्विचरम स्थितिखण्ड से चरम स्थितिखण्ड सख्यातगुण बडा होता है और चरम स्थितिखण्ड के साथ गुणश्रेणि का भी शीर्ष स्थानीय अन्तिम सख्यातवाँ भाग नष्ट हो जाता है। गुणश्रेणि के नष्ट होने पर अन्तिम सख्यातवे भाग की अपेक्षा भी चरम स्थितिखण्ड सख्यातगुण बडा है। चरम स्थितिखण्ड के दलिको को वहाँ से उतारकर उनक साथ अर्थात् चरम स्थितिखण्ड के साथ जिस गुणश्रेणि का भाग नष्ट नही होता है, उस भाग के चरम समय तक उदयसमय से लेकर असख्यात गुणाकार रूप से स्थापित करता है। इस तरह से चरम स्थितिखण्ड का भी नाश करता है और इस चरम स्थिति खण्ड का नाश हो तब क्षपक कृतकरण कहलाता है।

अनिवृत्तिकरण मे चरम स्थितिखण्ड का नाश होने के बाद सम्यक्त्व-

मोहनीय का जो थोडा सा भाग अभी सत्ता मे है उतना भाग सत्ता मे हो और बद्धायु हो तो अनिवृत्तिकरण पूर्ण होने के साथ आयु पूर्ण हो जाये तो काल करके चार मे से किसी भी गति मे जाकर सत्ता मे शेष रहे सम्यक्त्व मोहनीय का शेष भाग उदय-उदीरणा से भोग कर क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करता है एव पूर्व मे कृतकरण तक शुक्ल लेश्या वाला था परन्तु उसके बाद परिणामो के अनुसार किसी भी लेश्यावाला होता है। इसलिए क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करने का प्रारम्भक मनुष्य होता है परन्तु क्षायिक सम्यक्त्व की उत्पत्ति की पूर्णता चारो गति मे हो सकती है।

अबद्धायुष्क अथवा वैमानिक देव का, प्रथम तीन नरक का एव युगलिक मनुष्य तिर्यंच का आयु बाधा हुआ क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है परन्तु भवनपति आदि देवनिकाय त्रय का, चौथे आदि नरक का एव सख्यात वर्ष के मनुष्य-तिर्यंच का आयु बाधे हुए जीव क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त नही कर सकते हे।

यदि अबद्धायुष्क क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करे तो दर्शनत्रिक का क्षय करने के बाद अन्तर्मुहूर्त मे ही क्षपक श्रेणि करके केवलज्ञान प्राप्त करता है, जिससे वह चरम शरीरी होता है और देवायु बाधने के बाद क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करने वाला दर्शनत्रिक का क्षय करने के बाद उपशम श्रेणि कर सकता है परन्तु शेष आयुओ को बाँधने के बाद यदि क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करे तो वह जीव उपशम श्रेणि भी नही कर सकता है।

देव अथवा नरक आयु बाधने के पश्चात यदि क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करे तो जिस भव मे क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया है वह मनुष्य भव, दूसरा देव अथवा नरक भव करके तीसरे भव मे मनुष्य होकर मोक्ष मे जाता है। परन्तु यदि तीसरे भव मे मनुष्य होने पर भी वहाँ काल या क्षेत्र के प्रभाव से मोक्ष प्राप्ति की सामग्री न मिल सके तो वहाँ देवायु बाध कर चौथा भव देव का कर मनुष्य मे आकर कोई जीव पाचवे भव मे भी मोक्ष मे जाता है और यदि युगलिक मनुष्य या तिर्यंच की आयु बाधने के बाद क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करे तो वह पहला मनुष्य का भव, दूसरा युगलिक मनुष्य या तिर्यंच का भव, युगलिक काल करके अवश्य देवलोक मे जाते हैं अत तीसरा देव का भव कर चौथे भव मे मनुष्य होकर मोक्ष मे जाता है।

चारित्रमोहनीय की उपशमना का स्वामित्व

संक्लिष्ट परिणामो का त्याग कर अनन्तगुण विशुद्धि मे वर्तमान चौथे मे सातवें तक चार गुणस्थानो मे से किसी भी एक गुणस्थान मे वर्तमान क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि चारित्रमोहनीय की उपशमना का प्रयत्न करता है। चारित्रमोहनीय का उपशम नौवें-दसवें गुणस्थान मे ही होता है, जिससे चारित्रमोहनीय की उपशमना का प्रयत्न करती आत्मा देशविरति प्राप्त करके अथवा बिना करे किन्तु सर्वविरति प्राप्त करने के अनन्तर नौवे और दसवे गुणस्थान मे जाकर चारित्रमोहनीय का उपशम करती है।

पाच अणुव्रतो मे से कोई एक अणुव्रत ग्रहण करे वह जघन्य, दो, तीन यावत् पाचो अणुव्रत ग्रहण करे वह मध्यम और सवासानुमति को छोडकर शेष पाप व्यापार का त्याग करे वह उत्कृष्ट देशविरत कहलाता है और इस सवासानुमति का भी त्याग कर दिये जाने पर सर्वविरत कहलाता है।

देशविरति प्राप्त करने वाला अविरतसम्यग्दृष्टि और सर्वविरति प्राप्त करने वाला अविरतसम्यग्दृष्टि अथवा देशविरत इन दोनो मे से कोई भी होता है। देश-विरति और सर्वविरति प्राप्त करने के लिए यथाप्रवृत्त और अपूर्वकरण यह दो करण करता है। करणकाल के अन्तर्मुहूर्त के पहले भी प्रतिसमय अनन्तगुण विशुद्धयमान परिणामी आदि उपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति मे तीन करण के पहले बताई गई समस्त योग्यता वाला होता है और उसी प्रकार अन्तर्मुहूर्त काल तक रहकर पूर्व मे बताये गये स्वरूप वाले यथाप्रवृत्त और अपूर्वकरण करता है। परन्तु यहाँ अपूर्वकरण मे गुणश्रेणि नही होती, इतनी विशेषता है।

मोहनीय कर्म की किसी भी प्रकृति का सर्वथा क्षय अथवा उपशम करना हो तब तीसरा अनिवृत्तिकरण भी होता है। परन्तु इन दो गुणो को प्राप्त करने पर मोहनीय कर्म की किसी भी प्रकृति का सर्वथा क्षय अथवा उपशम नही होता है, परन्तु देशविरति प्राप्त करने पर अप्रत्याख्यानावरण कषाय का और सर्वविरति प्राप्त करने पर प्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षयोपशम होता है, जिससे तीसरा अनिवृत्तिकरण नही होता है, किन्तु अपूर्वकरण की समाप्ति के बाद पहले समय मे ही आत्मा देशविरति अथवा सर्वविरति प्राप्त करती है।

जिस समय यह दो गुण प्राप्त करती है उस समय स उदयावलिका से ऊपर के प्रथम समय से गुणश्रेणि करती है तथा गुण-प्राप्ति के समय से अन्तर्मुहूर्त काल तक *अवश्य वर्धमान परिणाम* वाली होने से पूर्व-पूर्व के समय से उत्तर-उत्तर के समय मे ऊपर से असख्यातगुण दलिको को अवतरित कर अन्तर्मुहूर्त काल तक मे असख्यात गुणाकार रूप मे स्थापित करती है। तत्पश्चात् गुण-प्राप्ति के समय की अपेक्षा अथवा जिस समय गुणश्रेणि का विचार करते है, उससे पूर्व के समय की अपेक्षा किसी जीव को वर्धमान, किसी जीव को अवस्थित अर्थात् पूर्ववत् सदृश—समान, तुल्य और किसी जीव को हीयमान परिणाम भी होते हैं, जिससे गुणश्रेणि भी समान नही होती है। परन्तु वर्धमान परिणाम होने पर परिणामो के अनुसार ऊपर से प्रतिसमय असख्यातभाग अधिक, सख्यातभाग अधिक, सख्यातगुण अधिक अथवा असख्यातगुण अधिक दलिक उतरते है और यदि अवस्थित परिणाम हो तो ऊपर से प्रत्येक समय समान दलिक उतरते है और हीयमान परिणाम होने पर पूर्व-पूर्व समय की अपेक्षा उत्तर-उत्तर के समय मे परिणामानुसार ऊपर से असख्यातभाग हीन, सख्यातभाग हीन, सख्यातगुण हीन अथवा असख्यात-गुण हीन दलिक उतरते है।

जिस समय दलिक उतरते है, उसी समय अनुदयवती प्रकृतियो की उदयावलिका के ऊपर प्रथम समय से और रसोदयवती प्रकृतियो मे उदयसमय से अन्तर्मुहूर्त काल तक के स्थानो मे अनुक्रम से असख्यात गुणाकार रूप से निक्षिप्त करता है। इस प्रकार जब तक देशविरति अथवा सर्वविरति रहे तब तक गुणश्रेणि भी चालू रहती है और सर्वत्र अन्तर्मुहूर्त काल तक के समान स्थानो मे दलिक रचना होती है।

जानबूझकर व्रतो का भग निष्ठुर परिणाम बिना होता नही है, इससे जो जानबूझकर व्रतो का भगकर इन दो गुणो से आत्मा नीचे उतरे तो पुन यथाप्रवृत्तकरण और अपूर्वकरण करके ही इन दो गुणा को प्राप्त कर सकती है परन्तु, अनजान मे प्रबल मोहनीय कर्म के उदय से जो आत्मायें अधोवर्ती गुणस्थानो मे जाती है, उनके वैसे निष्ठुर परिणाम न होने से इन दो करणो को किये बिना भी पुन देशविरति अथवा सर्वविरति प्राप्त हो सकती है।

परिशिष्ट ८

चारित्रमोहनीय की सर्वोपशमना विधि का संक्षिप्त सारांश

चारित्रमोहनीय की उपशमना करने के लिये छठे सातवें गुणस्थान मे हजारो बार गमनागमन करके आत्मा पूर्व मे बताये गये यथाप्रवृत्त आदि तीन करणो को करती है ।

यथाप्रवृत्तकरण अप्रमत्तसयत गुणस्थान मे, अपूर्वकरण अपूर्वकरण गुणस्थान मे और अनिवृत्तिकरण अनिवृत्तिकरण गुणस्थान मे करने से यह तीन गुणस्थान तीन करण रूप हैं । अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण मे स्थिति-घात आदि पदार्थ होते है । परन्तु अपूर्वकरण के प्रथम समय से सत्ता मे वर्तमान सभी अशुभ प्रकृतियो का बध्यमान स्वजातीय प्रकृतियो मे गुणसक्रम होता है तथा अनिवृत्तिकरण सम्बन्धी विशेषता इस प्रकार है—

इस करण के प्रथम समय से सत्तागत सर्व कर्म प्रकृतियो के किसी भी दलिक मे देशोपशमना, निद्धत्ति और निकाचना नही होती है—एव अपूर्व-करण के प्रथम समय मे आयु कर्म के सिवाय शेष सात कर्मों की जो अन्त-कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थितिसत्ता और स्थितिबन्ध होता है, उसकी अपेक्षा इस गुणस्थान मे प्रथम समय मे सख्यातगुण हीन अन्त कोडा-कोडी सागरोपम प्रमाण स्थितिसत्ता और स्थितिबन्ध होता है अर्थात् सख्यात-भाग प्रमाण होता है ।

यद्यपि यहाँ सामान्य से स्थितिसत्ता और स्थितिबन्ध समान होता है, फिर भी बन्ध की अपेक्षा सत्ता बहुत अधिक होती है एव सामान्य से सातो कर्म की सत्ता और बन्ध समान बताने पर भी स्थिति के अनुसार सत्ता और स्थितिबन्ध मे स्थितिघात आदि के द्वारा विविध प्रकार के परिवर्तन होते रहने से अन्त मे मोहनीय कर्म का नवीन स्थितिबन्ध सबसे अल्प, उसकी अपेक्षा ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय इन तीन का असख्यातगुण किन्तु

स्वस्थान मे परस्पर समान, उनसे नाम गोत्र का असख्यातगुण और स्वस्थान मे परस्पर तुल्य और उनसे भी वेदनीय का स्थितिवध असख्यातगुण होता है।

जिस समय सातकर्म का स्थितिवध पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण होता है उस समय मे असख्यात समयो मे वधे हुए सत्तागत दलिको की ही उदीरणा होती है, परन्तु उसमे पूर्व वधे हुए सत्तागत दलिको की उदीरणा नही होती है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म की कुछ उत्तरप्रकृतियो का देशघाति रस वधता है। जिस-जिस समय जिस-जिस प्रकृति का देशघाति रस वधता है, उसके पूर्व समय तक दोनो श्रेणियो (उपशम, क्षपक) मे उस-उस प्रकृति का सर्वघाति रस भी बँधता था सिर्फ देशघाति नही, यह समझना चाहिए।

वीर्यान्तराय कर्म का देशघाति रसवध होने के वाद सख्यात हजारो स्थितिघात व्यतीत होने पर अप्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क आदि बारह कषाय और नव नोकषाय इस तरह चारित्रमोहनीय की इक्कीस प्रकृतियो की अन्तरकरण क्रिया आरम्भ होती है। उस अन्तरकरण क्रिया का काल एक स्थितिघात अथवा अपूर्व स्थितिवध काल के समान अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

उस अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल वाली अन्तरकरण क्रिया द्वारा एक जीव की अपेक्षा वेद्यमान चार सज्वलनकषाय मे से एक कषाय और वेद्यमान तीन वेदो मे से एक वेद इस प्रकार दो प्रकृतियो की प्रथमस्थिति श्रेणि मे जव तक अपना-अपना उदय रहता है तब तक अन्तर्मुहूर्त प्रमाण और शेष उन्नीस प्रकृतियो की आवलिका प्रमाण और अनेक जीवो की अपेक्षा चार सज्वलन और तीन वेद की प्रथम स्थिति श्रेणि मे अपना-अपना जव तक उदय रहता है तव तक अन्तर्मुहूर्त प्रमाण और शेष चौदह प्रकृतियो की उदयावलिका प्रमाण स्थिति रख, मध्य मे अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थान मे रही हुई भोगने योग्य इक्कीस प्रकृतियो के दलिको को वहाँ से दूर कर अन्यत्र स्थापित कर उनके साथ भोगने योग्य करना है।

जिस समय अन्तरकरण करने की क्रिया समाप्त होती है। उसके वाद के समय मे यह सात पदार्थ प्रवर्तित होते है—

१ अभी तक मोहनीय कर्म का जो रस द्विस्थानक वधता था। अव एकस्थानक वधता है।

२ मोहनीय कर्म का नवीन स्थितिवध सख्यात वर्ष प्रमाण और उदय तथा उदीरणा भी सख्यात वर्ष प्रमाण होती है।

३ अभी तक जो वध्यमान प्रकृतियो की वधावलिका व्यतीत होने के बाद उदीरणा होती थी परन्तु अब वध्यमान प्रत्येक प्रकृतियो की वध समय से छह आवलिका व्यतीत होने के बाद उदीरणा होती है।

४ अभी तक तो मोहनीय कर्म की वध्यमान पुरुषवेद और सज्वलन कषाय चतुष्क इन पाँच प्रकृतियो का परस्पर एक दूसरे मे सक्रम होता था किन्तु अब पुरुषवेद का सज्वलन क्रोधादि चार मे, सज्वलन क्रोध का सज्वलन मान आदि तीन मे सक्रम होता है, परन्तु पुरुषवेद मे नही होता है। सज्वलन मान का सज्वलन माया और लोभ मे सक्रम होता है, परन्तु पुरुषवेद और सज्वलन क्रोध मे नही होता है। सज्वलन माया का सक्रम सज्वलन लोभ मे होता है परन्तु पुरुषवेद, सज्वलन क्रोध व मान मे नही होता है और सज्वलन लोभ का किसी मे भी सक्रम नही होता है अर्थात् सज्वलन लोभ के सक्रम का अभाव है।

५ अब जो मोहनीय कर्म का नया स्थितिबन्ध होता है, वह पूर्व-पूर्व के स्थितिवध की अपेक्षा सख्यातगुण हीन-हीन अर्थात् सख्यातभाग प्रमाण होता है।

६ शेष कर्मो का नया स्थितिवध पूर्व-पूर्व के स्थितिवध की अपेक्षा असख्यातगुण हीन-हीन अर्थात् असख्यातभाग प्रमाण होता है।

७ द्वितीय स्थितिगत नपुसकवेद के दलिको को उपशमित करने की शुरुआत करता है। उसमे पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर समय मे असख्यात-गुण उपशमित करता है और जिस समय जितना-जितना दलिक उपशमित करता है, उसकी अपेक्षा असख्यातगुण पर-प्रकृति मे सक्रमित करता है। इस तरह नपुसक वेद को उपशमित करना द्विचरम समय तक समझना चाहिए, परन्तु चरम समय मे तो जो अन्य प्रकृति मे सक्रमित होता है, उस की अपेक्षा असख्यातगुण उपशमित करता है।

यहाँ वेद्यमान समस्त कर्मो की ऊपर की स्थितियो मे से प्रभूत दलिको को उतारकर गुणश्रेणि मे क्रमबद्ध स्थापित किये होने से और गुणश्रेणि की ऊपर की स्थितियो मे दलिक अल्प होने से उदीरणा द्वारा अल्प दलिक उदय

मे प्राप्त होते है और उसकी अपेक्षा स्वाभाविक रीति से उदय मे आने वाले दलिक असख्यातगुण होते हैं।

इस प्रकार से नपुसकवेद का उपशम होने के बाद हजारो स्थितिघात प्रमाण काल मे इसी क्रम से स्त्रीवेद का उपशम करता है। परन्तु स्त्रीवेद की उपशमन क्रिया के काल का सख्यातवा भाग जाने के बाद ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातिकर्मों का स्थितिबंध सख्यातवर्ष प्रमाण करता है। तत्पश्चात् इन तीनो कर्मों का नया-नया स्थितिबंध पूर्व-पूर्व के स्थितिबंध की अपेक्षा सख्यातगुण हीन-हीन यानि सख्यातवें भाग प्रमाण करता है और अभी तक केवलज्ञानावरण के बिना ज्ञानावरणचतुष्क और केवलदर्शनावरण के बिना तीन दर्शनावरण इन सात प्रकृतियो का जघन्य द्विस्थानक रस बांधता था, परन्तु उसके बदले जिस समय से ज्ञाना-वरणादि तीन कर्मों का सख्यात वर्ष प्रमाण स्थितिबन्ध होता है, उस समय से एकस्थानक रसबन्ध होता है। उसके बाद हजारो स्थितिघात व्यतीत होने पर पूर्ण रूप से स्त्रीवेद उपशमित हो जाता है। स्त्रीवेद का उपशम होने के बाद तत्काल हास्यषट्क और पुरुषवेद इन सात प्रकृतियो की नपुसकवेद की तरह एक साथ उपशम क्रिया प्रारम्भ होती है। इन सात प्रकृतियो की उपशम क्रिया के काल का एक सख्यातवा भाग जाने के बाद नाम और गोत्र इन दो कर्मों का स्थितिबन्ध सख्यात वर्ष प्रमाण और उस समय वेदनीय कर्म का स्थितिबन्ध असख्यात वर्ष प्रमाण होता है। परन्तु वेदनीय कर्म का वह असख्यात वर्ष प्रमाण अन्तिम स्थितिबन्ध पूर्ण होने के बाद सभी कर्मों का स्थितिबन्ध सख्यात वर्ष प्रमाण होता है और अब पूर्व-पूर्व के स्थितिबन्ध की अपेक्षा प्रत्येक कर्म का नया स्थितिबन्ध सख्यातगुण हीन-हीन अर्थात् सख्यातवें भाग प्रमाण होता है। उसके बाद हजारो स्थितिघात व्यतीत हो तब हास्यषट्क का सम्पूर्ण उपशम होता है और जिस समय हास्यषट्क का सम्पूर्ण उपशम होता है, उस समय पुरुषवेद की प्रथम स्थिति एक समय प्रमाण और द्वितीय स्थिति मे समय न्यून दो आवलिका प्रमाण काल मे बन्धे दलिक को छोडकर शेष सब दलिक उपशमित हो जाते है और उस समय पुरुषवेद का चरम स्थितिबन्ध सोलह वर्ष प्रमाण होता है।

पुरुषवेद की प्रथम स्थिति दो आवलिका प्रमाण बाकी हो तब द्वितीय स्थिति मे से उदीरणाप्रयोग द्वारा दलिक पुरुषवेद की उदयावलिका मे

नही आते हैं, जिससे आगाल रुक जाता है, किन्तु उदीरणा चालू रहती है, तथा प्रथम स्थिति समय न्यून दो आवलिका प्रमाण शेप रहे तव पुरुषवेद अपतद्ग्रह होता है, जिससे उस समय से हास्यपट्क के दलिक पुरुपवेद मे नही परन्तु सज्वलन कोधादि मे सक्रमित होते हैं एव एक समय प्रमाण पुरुषवेद की प्रथम स्थिति भोगने के बाद आत्मा अवेदक होती है और जिस समय आत्मा अवेदक होती है, उस समय द्वितीय स्थिति मे दो समय न्यून दो आवलिका प्रमाण मे बधा हुआ पुरुषवेद का दलिक अनुपशात होता है। क्योकि जिस समय जो कर्म बँधता है अथवा अन्य प्रकृति मे से सक्रमित होकर आता है, उस समय से एक आवलिका प्रमाण काल तक उसमे कोई करण नहीं लगता है। इसलिये बधावलिका अथवा सक्रमावलिका व्यतीत होने के बाद दूसरी आवलिका के प्रथम समय से उसे सक्रमित अथवा उपशमित करने की क्रिया शुरू करता है और उसे सम्पूर्ण सक्रमित करते अथवा उपशमित करते दूसरी आवलिका पूर्ण हो जाती है, अर्थात् दूसरी आवलिका के चरम समय मे सम्पूर्ण सक्रम या उपशम हो जाता है।

इसी प्रकार सज्वलन क्रोधादि चार कषायो का बधविच्छेद से बाद के समय मे दो समयन्यून दो आवलिका प्रमाण काल मे बँधे क्रोधादि के दलिक भी अनुपशात होते हैं और जिस समय पुरुषवेद का सोलह वर्ष प्रमाण बध होता है उस समय चारो सज्वलन कपाय का सख्यात हजार वर्ष प्रमाण स्थितिबध होता है।

अवेदक के प्रथम समय मे दो समयन्यून दो आवलिका प्रमाण काल मे बँधे पुरुपवेद का जो दलिक अनुपशात है, उसे उसी समय न्यून दो आवलिका काल तक क्रमश पूर्व-पूर्व के समय से उत्तर के समय मे असख्यात गुणाकार रूप से उपशमित करता है और बध्यमान सज्वलन कपायो मे यथाप्रवृत्त सक्रम द्वारा पहले समय मे अधिक और उसके उत्तर-उत्तरवर्ती समय मे विशेप हीन-हीन सक्रमित करता है। इस तरह जिस समय अवेदक होता है, उस समय से दो समयन्यून दो आवलिका के अन्त मे पुरुपवेद सम्पूर्ण उपशात होता है और उस समय चारो सज्वलन कपायो का स्थिति-बध बत्तीस वर्ष प्रमाण तथा मोहनीय के बिना शेप कर्मों का सख्यात हजार वर्ष प्रमाण होता है।

अवेदक के प्रथम समय से अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और

सज्वलन इन तीनो क्रोध को एक साथ उपशमित करने की शुरुआत करता है और उत्तरोत्तर प्रत्येक समय असख्यातगुण उपशात करता है एव इन तीनो क्रोधो की उपशमन क्रिया शुरू करता है उस समय जो स्थितिवध होता है, उस स्थितिवध के पूर्ण होने के वाद चारो सज्वलन कपायो का नया स्थिति-वध सख्यातभाग हीन और शेप कर्मो का सख्यातगुण हीन यानि सख्यातवें भाग प्रमाण करता है।

सज्वलन क्रोध की प्रथम स्थिति समयन्यून तीन आवलिका शेप रहने पर सज्वलन क्रोध अपतद्ग्रह होता है, जिससे उस समय से सत्तागत अन्य प्रकृतियो के दलिक सज्वलन क्रोध मे सक्रमित नही होते है परन्तु मान आदि तीन मे सक्रमित होते है। सज्वलन क्रोध की प्रथम स्थिति दो आवलिका प्रमाण शेप रहे तव आगाल होना वद हो जाता है और प्रथम स्थिति एक आवलिका बाकी रहे तव सज्वलन क्रोध के वध-उदय-उदीरणा एक साथ विच्छिन्न होते है और उस समय अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण क्रोध सम्पूर्ण उपशात होता है और जिस समय सज्वलन क्रोध का वधविच्छेद होता है उस समय प्रथम स्थिति मे एक आवलिका और द्वितीय स्थिति मे समयन्यून दो आवलिका प्रमाण काल मे वधे दलिक को छोडकर शेप अन्य सव दलिक उपशमित हुआ होता है। प्रथम स्थितिगत आवलिका को स्तिवुक सक्रम से मान मे, मान की प्रथम स्थितिगत आवलिका को माया मे, माया की लोभ मे और वादर लोभ की प्रथम स्थितिगत आवलिका को दसवें गुण-स्थान मे किट्टियो मे सक्रमित कर भोगकर दूर करता है।

क्रोध की द्वितीय स्थिति मे वधविच्छेद के वाद के समय मे जो समय न्यून दो आवलिका प्रमाणकाल मे वधा दलिक अनुपशात है उसे वधविच्छेद के वाद के समय से दो समयन्यून दो आवलिका काल मे पुरुपवेद की तरह उपशमित करता है और यथाप्रवृत्त सक्रम से वध्यमान प्रकृतियो मे सक्रमित करके पूर्ण रूप से उपशात करता है। इसी प्रकार मान और माया की द्वितीय स्थिति मे वधविच्छेद के वाद के समय के दलिक के लिये भी समझना चाहिए।

लोभ के वधविच्छेद के वाद के समय मे जो दो समयन्यून दो आव-लिका प्रमाण काल मे वधे दलिक अनुपशात होते है, उनको दसवें गुणस्थान मे उतने ही काल मे पूर्णरूप से स्वस्थान मे उपशमित करता है, परन्तु

मोहनीय कर्म की अन्य किसी प्रकृति का वध नही होने से सक्रमित नही करता है।

सज्वलन क्रोध के बधविच्छेद के समय चारो सज्वलन कपायो का स्थितिवध चार मास प्रमाण और ज्ञानावरण आदि छह कर्मो का स्थिति-वध सख्यात हजार वर्प प्रमाण होता है। जिस समय सज्वलन क्रोध के वधोदय उदीरणा का विच्छेद होता है, उसके वाद के समय से मान की द्वितीय स्थिति मे रहे दलिको को आकृष्ट कर अन्तरकरण रूप खाली जगह मे लाकर इस गुणस्थान मे जितना काल मान के उदय का रहने वाला है, उससे एक आवलिका अधिक काल तक मे पूर्व-पूर्व के समय से उत्तर-उत्तर के समय मे असख्यात गुणाकार दलिक स्थापित कर प्रथम स्थिति बनाकर उनका उदय करता है।

सज्वलन मानोदय के प्रथम समय मे मान आदि तीन का स्थितिबध चार मास प्रमाण होता है और उसी समय से अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्याना-वरण और सज्वलन इन तीनो प्रकार के मान को उपशात करना प्रारम्भ करता है। जब मान की प्रथम स्थिति समयन्यून तीन आवलिका रहती है तब सज्वलन मान अपतद्ग्रह हो जाता है, जिससे उस समय से अन्य प्रकृति के दलिक सज्वलन मान मे सक्रमित नही होकर माया और लोभ मे सक्रमित होते है और सज्वलन मान की प्रथम स्थिति दो आवलिका शेप रहे तब आगाल रुक जाता है और प्रथम स्थिति एक आवलिका शेप रहे तव अप्रत्या-ख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण मान का सम्पूर्ण रूप से उपशम हो जाता है और सज्वलन मान के बध, उदय, उदीरणा का विच्छेद होता है और मान की प्रथम स्थिति मे एक आवलिका और द्वितीय स्थिति मे समयन्यून दो आवलिका काल मे वधे दलिक के विना सज्वलन मान का भी सर्व दलिक उपशमित हुआ होता है।

सज्वलन मान के वन्धविच्छेद के समय सज्वलन मान आदि तीन कषाय का स्थितिवन्ध दो मास प्रमाण और शेप ज्ञानावरण आदि कर्मो का सख्यात वर्प प्रमाण होता है। सज्वलन मान के वन्धविच्छेद के वाद के समय मे सज्वलन माया की द्वितीय स्थिति मे रहे दलिको को आकृष्ट कर नौवें गुण-स्थान मे जितने काल माया का उदय रहने वाला है, उतने से आवलिका अधिक काल प्रमाण अन्तरकरण रूप खाली स्थान मे दलिको को लाकर गुण-

श्रेणि के क्रम से उदयसमय से लेकर असख्यात गुणाकार रूप से स्थापित कर प्रथम स्थिति बनाकर उसका वेदन करता है।

मायोदय के प्रथम समय के अप्रत्याख्यानीय, प्रत्याख्यानीय और सज्वलन इन तीनो प्रकार की माया को उपशमित करने की शुरुआत करता है और सज्वलन माया की प्रथम स्थिति समयन्यून तीन आवलिका रहे तब सज्वलन माया अपतद्ग्रह होने से अन्य प्रकृति के दलिक उसमे सक्रमित नही होते है परन्तु लोभ मे ही सक्रमित होने है तथा प्रथम स्थिति दो आवलिका शेष रहे तब आगाल और एक आवलिका शेष रहे तब बन्ध-उदय-उदीरणा का एक साथ विच्छेद होता है और उसी समय अप्रत्याख्यानीय और प्रत्याख्यानीय माया का सम्पूर्ण उपशम हो जाता है, परन्तु सज्वलन माया का प्रथम स्थिति मे एक आवलिका और द्वितीय स्थिति मे समयन्यून दो आवलिका प्रमाण काल मे बन्धा दलिक अनुपशात होता है और उस अनुपशात दलिक को भी उस समय से समयोन दो आवलिका काल मे उपशमित करता है।

सज्वलन माया के बन्धविच्छेद के समय सज्वलन माया और लोभ का एक मास प्रमाण तथा शेष कर्मो का सख्यात वर्ष प्रमाण स्थितिबन्ध होता है। मायोदय के विच्छेद के बाद के समय मे लोभ के द्वितीय स्थिति मे रहे दलिको को खीचकर इसके बाद अब जितना काल लोभ के उदय का रहता है, उस काल के तीन भाग मान कर दो भाग प्रमाण काल मे यानि नौवें गुण-स्थान के काल से एक आवलिका अधिक काल प्रमाण अन्तरकरण रूप खाली स्थान मे दलिको को लाकर प्रथम समय से असख्यात गुणाकार रूप से स्थापित कर प्रथमस्थिति बना उसका उदय शुरू करता है एव सज्वलन माया के बन्ध-विच्छेद से बाद के समय मे अप्रत्याख्यानीय, प्रत्याख्यानीय और सज्वलन इन तीनो लोभ को उपशमित करने की शुरुआत करता है तथा सज्वलन की प्रथम स्थिति समयन्यून तीन आवलिका बाकी रहे तब सज्वलन लोभ अपत-द्ग्रह होने से दोनो लोभ को स्वस्थान मे ही उपशमित करता है परन्तु पतद्-ग्रह के अभाव मे सक्रमित नही करता है और नौवें गुणस्थान के चरम समय मे अप्रत्याख्यानीय, प्रत्याख्यानीय लोभ पूर्ण उपशमित हो जाता है।

जिस समय सज्वलन लोभ का उदय होता है उस समय से लोभ के उदय काल के तीन विभाग करता है और उनमे से प्रथम दो भाग मे दलिको को स्थापित करता है, यह पूर्व मे कहा जा चुका है। उनमे लोभ के वेदन के पहले

भाग का अश्वकर्णकरणाद्धा, दूसरे भाग का किट्टिकरणाद्धा और तीसरे भाग का नाम किट्टीवेदनाद्धा है। इनमे से सख्याते स्थितिघात प्रमाण अश्वकर्णकरणाद्धा काल मे द्वितीय स्थिति मे रहे सज्वलन लोभ के दलिको के प्रत्येक समय अपूर्वस्पर्धक करता है। अर्थात् अनादि ससार मे बन्ध द्वारा किसी भी समय सज्वलन लोभ के न किये हो वैसे इस समय वध्यमान लोभ के रसस्पर्धको के समान सत्तागत दलिको के रसस्पर्धको मे से कितने ही नये रस स्पर्धक बनाता है, यानि प्रवर्धमान रसाणुओ का क्रम तोडे बिना सत्तागत रसस्पर्धको को अनन्तगुण हीन रस वाला कर नवीन रसस्पर्धक बनाता है और वे ही अपूर्वस्पर्धक कहलाते है। तत्पश्चात लोभ वेदन करने के दूसरे भाग मे प्रवेश करता है और वही किट्टिकरणाद्धा का काल है। उस किट्टिकरणाद्धा के प्रथम समय मे सज्वलन लोभ का स्थितिबन्ध दिवसपृथक्त्व और शेष कर्मों का वर्ष पृथक्त्वप्रमाण होता है।

किट्टिकरणाद्धा के प्रथम समय से चरम समय तक प्रत्येक समय द्वितीय स्थिति मे रहे हुए सज्वलन लोभ के पूर्व और अपूर्व स्पर्धको मे से कितनेक दलिको को ग्रहण कर उनमे से अनन्त-अनन्त किट्टिया बनाता है। अर्थात् पूर्व मे प्रवर्धमान रसाणुओ के क्रम का त्याग किये बिना अनन्तगुण हीन रस वाले अपूर्वस्पर्धक किये थे परन्तु अब विशुद्धि का परम प्रकर्ष होने से एकोत्तर प्रवर्धमान रसाणुओ का क्रम तोडकर अपूर्वस्पर्धक करने पर भी अनन्तगुण हीन रस करता है।

एक रसस्पर्धक मे जितनी वर्गणायें होती हैं उनके अनन्तवें भाग जितनी किट्टिया प्रथम समय मे बनाता है। प्रथम समय मे बनायी हुई किट्टियो की अपेक्षा दूसरे समय मे असख्यातवें भाग प्रमाण किट्टिया बनाता है। इस तरह किट्टिकरणाद्धा के चरम समय तक पूर्व-पूर्व समय की अपेक्षा उत्तर-उत्तर के समय मे असख्यातगुण हीन-हीन अर्थात् असख्यातवें भाग प्रमाण किट्टिया बनाता है और सर्वोत्कृष्ट रसवाली किट्टियो का रस भी सर्व जघन्य रसस्पर्धक के रस से अनन्तगुण हीन अर्थात् अनन्तवें भाग जितना होता है।

पूर्व-पूर्व के समय से उत्तर-उत्तर के समय मे अनन्तगुण विशुद्धि होती है एव तथास्वभाव से ही अधिक रस वाले कर्म परमाणु अल्प और अल्परस वाले कर्म परमाणु अधिक होते हैं, जिससे प्रथम समय की गई सभी

किट्टियो मे रस की अपेक्षा दूसरे समय मे की गई किट्टियो मे रस अनन्तगुण हीन यानि अनन्तवे भाग प्रमाण होता है और उससे भी तीसरे समय मे की गई किट्टियो मे रस अनन्तगुण हीन होता है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व के समय की अपेक्षा उत्तर-उत्तर के समय मे की गई किट्टियो मे क्रमश अनन्तगुण हीन-हीन रस होता है।

प्रथम समय की गई सभी किट्टियो का दलिक बाद के समय की गई किट्टियो के दलिक की अपेक्षा अल्प होता है और प्रथम समय की समस्त किट्टियो के दलिक से दूसरे समय की गई किट्टियो का दलिक असख्यात-गुण, उससे भी तीसरे समय की गई किट्टियो का दलिक असख्यातगुण होता है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व समय की अपेक्षा उत्तर-उत्तर के समय मे की गई किट्टियो का दलिक क्रमश असख्यात असख्यात गुण होता है।

यह अल्पबहुत्व तो हुआ पूर्व-पूर्व के समय से उत्तर-उत्तर के समय मे की गई किट्टियो के रस और दलिको का तथा प्रत्येक समय की गई किट्टियो का परस्पर अल्पबहुत्व इस प्रकार जानना चाहिए—

प्रथम समय मे की गई अनन्त किट्टियो मे से सब से अल्परस वाली जो किट्टि है, उसे प्रथम स्थापन कर उसके बाद उत्तरोत्तर प्रवर्धमान अधिक रसवाली प्रथम समय की गई सभी किट्टियो का अनुक्रम से स्थापन करें तो प्रथम किट्टि मे सबसे अल्प रस होता है, उससे दूसरी किट्टि मे अनन्तगुण, उससे तीसरी मे अनन्तगुण इस प्रकार पूर्व-पूर्व किट्टि की अपेक्षा आगे-आगे की किटिट मे अनन्तगुण रस होता है और उसी प्रथम समय की गई अनन्त किट्टियो मे की जो सर्वाल्प रस वाली प्रथम किट्टि है, उसमे उसी प्रथम समय की गई अन्य किट्टियो के दलिक की अपेक्षा अधिक दलिक होते है और अनन्तगुण अधिक रस वाली आगे-आगे की किट्टि मे विशेष हीन-हीन दलिक होते हैं।

इसी प्रकार किट्टिकरणाद्धा के चरम समय तक की जाने वाली किट्टियो के विषय मे जानना चाहिए। साथ ही यह भी समझना चाहिए कि प्रथम समय की गई किट्टियो मे की जो किट्टि सबसे अल्प रस वाली है, वह भी दूसरे समय की गई किट्टियो मे की सबसे अधिक रस वाली किट्टि की अपेक्षा अनन्तगुण अधिक रस वाली है और दूसरे समय की गई किट्टियो मे की जो

किट्टि सबसे अल्प रस वाली है, वह भी तीसरे समय की गई सबसे अधिक रस वाली किट्टि की अपेक्षा भी अनन्तगुण रस वाली है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व के समय मे की गई किट्टियो मे की जो किट्टि सबसे अल्प रस वाली है, वह भी आगे-आगे के समय मे की गई सबसे अधिक रसवाली किट्टि की अपेक्षा अनन्तगुण रस वाली होती है।

प्रथम समय मे की गई किट्टियो मे की जो किट्टि सबसे अल्प रस और बहुत प्रदेश वाली है उसके दलिक की अपेक्षा भी दूसरे समय की गई किट्टियो मे जो सबसे अधिक रस और अल्प प्रदेश वाली है, वह भी असख्यातगुण दलिक वाली है। उसकी अपेक्षा तीसरे समय की गई किट्टियो मे जो किट्टि सबसे अधिक रस और अल्प दलिक वाली है, वह भी असख्यातगुण दलिक वाली है, उसकी अपेक्षा चौथे समय की गई किट्टियो मे जो किट्टि सबसे अधिक रस और अल्प प्रदेश वाली है, वह भी असख्यातगुण प्रदेश वाली है। इस प्रकार चरम समय तक समझना चाहिए।

किट्टिकरणाद्धा के बहुत से सख्यात भाग जायें तब सज्वलन लोभ का स्थिति-बध अन्तर्मुहूर्त प्रमाण, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का दिवसपृथक्त्व और शेष तीन कर्म का प्रभूत हजारो वर्ष प्रमाण होता है और वह भी हीन-हीन होते किट्टिकरणाद्धा के चरम समय मे यानि नौवें गुणस्थान के चरम समय मे अभी बताये गये अन्तर्मुहूर्त की अपेक्षा सज्वलन लोभ का बहुत ही छोटे अन्तर्मुहूर्त प्रमाण, ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय का एक अहोरात्र प्रमाण और शेप तीन कर्म का कुछ न्यून दो वर्ष प्रमाण स्थिति-बध होता है और उसके बाद के समय मे जीव दसवें गुणस्थान मे प्रवेश करता है।

जिस समय दसवें गुणस्थान मे प्रवेश करता है उस समय लोभ वेदनाद्धारूप सज्वलन लोभ की दो तृतीयाश भाग प्रमाण की गई प्रथम-स्थिति की एक आवलिका और चरम दो समयन्यून दो आवलिका प्रमाणकाल मे बधे एव किट्टिकरणाद्धा मे की गई किट्टियो के सिवाय शेप सज्वलन लोभ का सर्व दलिक उपशात होता है और किट्टिकरणाद्धा मे द्वितीय स्थिति मे जो किट्टियाँ की हैं उनमे से दसवें गुणस्थान के प्रथम समय मे कितनी ही किट्टियो को आकर्षित कर अन्तरकरण रूप खाली स्थान के काल प्रमाण काल मे स्थापित कर प्रथम स्थिति बनाता है और भोगता है एव उसी समय

से नौवें गुणस्थान के अन्तिम समय न्यून दो आवलिका काल में बंधे हुए संज्वलन लोभ को दो समय न्यून दो आवलिका काल में स्वस्थान में उपशांत करता है, तब किट्टिकरणाद्धा की बाकी रही संज्वलन लोभ की आवलिका को स्तिबुक संक्रम से प्रथम स्थिति में संक्रमित कर आवलिका प्रमाण काल में भोगकर क्षय करता है।

दसवें गुणस्थान के प्रथम समय में किट्टिकरणाद्धा के पहले और अन्तिम समय में की गई किट्टियों के सिवाय शेष समय में की गई प्रत्येक किट्टियों के कितने ही दलिक उदय में आ जायें इस रीति से स्थापित करता है और प्रथम समय में की गई किट्टियों के ऊपर का असंख्यातवां भाग छोड़कर शेष किट्टियां उदीरणा द्वारा प्रथम समय में उदय में आती हैं। दूसरे समय उदयप्राप्त किट्टियों का असंख्यातवां भाग बिना भोगे ही उपशमित करता है और द्वितीय स्थिति में से उदीरणा द्वारा एक असंख्यातवें भाग प्रमाण किट्टियों को अनुभव करने के लिये ग्रहण करके उदयसमय में स्थापित कर भोगता है। इस प्रकार इस गुणस्थान के अन्तिम समय तक प्रत्येक समय उदयप्राप्त किट्टियों का एक-एक असंख्यातवां भाग अनुभव किये बिना उपशमित करता है और द्वितीय स्थिति में से उदीरणा द्वारा अपूर्व असंख्यातवें भाग प्रमाण किट्टियों को ग्रहण कर अनुभव करने के लिये उदय-समय में स्थापित करता है।

इस गुणस्थान के प्रथम समय से चरम समय तक द्वितीय स्थिति में जो सूक्ष्म किट्टिकृत दलिक अनुपशांत है, उसे भी पूर्व पूर्व के समय से आगे-आगे के समय में असंख्यात गुणाकार रूप से उपशमित कर चरम समय में सम्पूर्ण उपशान्त कर लेता है। इस गुणस्थान के चरम समय में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का अन्तर्मुहूर्त प्रमाण, नाम और गोत्र कर्म का सोलह मुहूर्त और वेदनीय का चौबीस मुहूर्त प्रमाण स्थितिबंध होता है। उसके बाद के समय में आत्मा ग्यारहवें उपशांतमोहगुणस्थान में प्रवेश करती है। इस गुणस्थान में मोहनीय कर्म सम्पूर्ण उपशान्त हुआ होने से उसका अनुदय होता है। इस गुणस्थान का काल मरण की अपेक्षा जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

इस गुणस्थान में मोहनीय कर्म का सर्वथा उपशम होने से उसकी सत्तागत किन्हीं भी प्रकृतियों में संक्रमण, उद्वर्तना, अपवर्तना, उदीरणा, निद्धत्ति

और निकाचना इन छह मे से कोई भी करण नही लगता है तथा इस अन्त-र्मुहूर्त काल मे मोहनीय कर्म की किसी भी प्रकृति का उदय भी नही होता है, मात्र सत्तागत मिथ्यात्व और मिश्र का सक्रम और दर्शन मोहत्रिक की अपवर्तना होती है।

यह क्रोधोदय से श्रेणि माडने वाले की अपेक्षा समझना चाहिए। मानोदय मे श्रेणि माडने वाले को नपुसकवेद की तरह तीनो क्रोध एक साथ उपशात होते हैं। मायोदय से श्रेणि पर आरूढ होने वाले को पहले तीन क्रोध, बाद मे तीन मान तथा इसी प्रकार लोभोदय से श्रेणि माडने वाले को पहले तीन क्रोध, फिर तीन मान और इसके बाद तीन माया उपशात होती हैं और लोभ को तो पहले की तरह ही उपशमित करता है।

क्रोधोदय से श्रेणि माडने वाले को जहाँ क्रोध का बधविच्छेद होता है, उसी स्थान पर मान से श्रेणि माडने वाले के भी क्रोध का बधविच्छेद होता है और जिस समय क्रोध का बधविच्छेद होता है, उसी समय समयन्यून दो आवलिका काल मे बधा हुआ क्रोध जो अनुपशात होता है, उसको बाद के समय से दो समयन्यून दो आवलिका काल मे क्रोधोदय से श्रेणि माडने वाले की तरह उपशमित करता है और यथाप्रवृत्त सक्रम से सक्रमित करता है।

इसी तरह मायोदय से श्रेणि माडनेवाले को भी जिस स्थान पर क्रोध का बधविच्छेद होता है, उसी स्थान पर क्रोध का और जिस जगह मान का बधविच्छेद होता है उसी जगह मान का और लोभोदय से श्रेणि माडने वाले को क्रोधादि तीन का क्रोधोदय से श्रेणि माडने वाले को जिस-जिस स्थान पर बध-विच्छेद होता है, उसी-उसी स्थान पर ही क्रमश सज्वलन क्रोध, मान और माया का बध-विच्छेद होता है और अपने-अपने बध-विच्छेद के समय समयन्यून दो आवलिका काल मे बधी हुई उस-उस कषाय का जो दलिक अनुपशात होता है उसे अपने-अपने बध-विच्छेद स बाद के समय मे दो समयन्यून दो आवलिका काल मे पहले के तरह ही उपशमित करता है और यथाप्रवृत्त सक्रम से सक्रमित करता है।

अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ग्यारहवें गुणस्थान का काल पूर्ण होने के पहले ही यदि मनुष्य भव का आयुष्य पूर्ण हो जाये तो काल करके सर्वार्थसिद्ध विमान मे उत्पन्न होता है और वह भव के क्षय से पतन हुआ कहलाता है और मरण

के चरम समय तक ग्यारहवां गुणस्थान होता है परन्तु देवभव के प्रथम समय में ही मध्य के छह गुणस्थानों का स्पर्श किये बिना चौथे गुणस्थान को प्राप्त होता है और उस समय में सभी करण प्रवृत्त होते हैं।

देवभव के प्रथम समय में जिस-जिस जीव के चारित्रमोहनीय की जिस-जिस प्रकृति का उदय होता है उस-उस कर्म प्रकृति की द्वितीय स्थिति में जो प्रथम दलिक उपशांत हुए थे, उनमें से अपवर्तना द्वारा अन्तरकरण रूप खाली स्थान में दलिक लाकर उदयसमय में आवलिका प्रमाण काल में गोपुच्छाकार और आवलिका से ऊपर प्रथम समय से गुणश्रेणि के शीर्ष तक असंख्यात गुणाकार रूप में और उसके बाद पुनः विशेष हीन-हीन स्थापित करता है तथा मोहनीय कर्म की जो प्रकृतियाँ देवभव के प्रथम समय में उदय में नहीं आती हैं, उन प्रकृतियों के दलिकों को द्वितीय स्थिति में से अपवर्तनाकरण द्वारा अन्तरकरण का खाली स्थान में लाकर उदयावलिका के ऊपर के प्रथम समय से गुणश्रेणि के शीर्ष तक असंख्यात गुणाकार और उसके ऊपर विशेष हीन-हीन स्थापित करता है और इससे प्रथम समय में जो अन्तरकरण रूप खाली स्थान था वहाँ भी पुनः दलिक स्थापित हो जाने से और खाली स्थान के भर जाने से अन्तरकरण नहीं रहता है।

आयुष्य पूर्ण न हो तो भी इस गुणस्थान का काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही होने से उसके पूर्ण होने पर जीव अवश्य गिरता है और वह अद्धाक्षय रूप पतन कहलाता है। जिस से जिस क्रम से चढ़ा था उसी क्रम से यानि ग्यारहवें से दसवें, नौवें, आठवें गुणस्थान में आकर वहाँ से सातवें और छठे गुणस्थान में हजारों बार परिवर्तन कर स्थिर होता है और कोई जीव पाँचवें, कोई चौथे गुणस्थान में आकर स्थिर होता है और कोई-कोई वहाँ से गिरकर पहले गुणस्थान में भी जाता है।

अद्धाक्षय से गिरने पर क्रमशः प्रथम संज्वलन लोभ, अनन्तर माया, मान और क्रोध का उदय होता है और जिस-जिस प्रकृति का जिस-जिस समय उदय होता है, उस समय उसकी द्वितीय स्थिति में रहे दलिकों को आकर्षित कर आवलिका प्रमाण काल में गोपुच्छाकार और उसके बाद गुणश्रेणि के शीर्ष भाग तक असंख्यात गुणाकार रूप और बाद में पुनः हीन-हीन दलिक स्थापित करता है एवं अवेद्यमान मोहनीय कर्म की अन्य प्रकृतियों के द्वितीय स्थिति में रहे हुए दलिकों को जब-जब अनुपशांत करे तब-तब उदयावलिका

के ऊपर प्रथम स्थिति से गुणश्रेणि शीर्ष तक असख्यात गुणाकार रूप से और बाद मे हीन-हीन स्थापित करता है एव स्थितिघात आदि चढते समय जैसे होते थे वैसे गिरते समय भी विपरीत क्रम से होते हैं अर्थात् चढते समय क्रमश स्थितिघात आदि जो अधिक-अधिक होते थे वे गिरते समय अल्प-अल्प प्रमाण मे होते है और चढते समय जिस-जिस स्थान मे जिस-जिस प्रकृति का बध, उदय, देशोपशम, निद्धत्ति और निकाचनाकरण का विच्छेद हुआ था उसी प्रकार से गिरते समय उस-उस स्थान मे वे सब पुन प्रारम्भ हो जाते हैं, परन्तु चढते समय अन्तरकरण करने के बाद पुरुपवेद और चार सज्वलन का सक्रम जो क्रमश ही होता था और लोभ के सक्रम का सर्वथा अभाव था एव बध्यमान कर्म की जिस समय छह आवलिका के बाद उदीरणा होती थी उसके बदले गिरते समय पुरुपवेद और चार सज्वलन का परस्पर पाचो का पाच मे सक्रम होता है, सज्वलन लोभ का भी सक्रम होता है और बध्यमान कर्मलता की बधावलिका के बाद उदीरणा भी होती है एव चढते समय गुणश्रेणि की रचना के लिये प्रति समय ऊपर की स्थितियो मे से असख्यातगुण दलिक उतरते थे, उसके बदले गिरते समय प्रत्येक असख्यातगुण हीन-हीन दलिक उतरते है और पूर्व की तरह स्थापित होते हैं।

क्षपक श्रेणि मे जिस-जिस स्थान पर जिस-जिस प्रकृति का जितना स्थितिबध होता है उसकी अपेक्षा चढते समय उपशम श्रेणि मे उस-उस स्थान पर दुगुना और गिरते समय उस-उस स्थान मे उससे भी दुगुना अर्थात् क्षपक श्रेणि से चौगुना स्थितिबध होता है।

क्षपक श्रेणि मे जिस-जिस स्थान पर शुभ और अशुभ प्रकृतियो का जितना रसबध होता है, उसकी अपेक्षा उपशम श्रेणि मे चढते समय क्रमश अनन्तगुण हीन और अनन्तगुण अधिक और गिरते समय उससे भी शुभ का अनन्तगुण हीन और अशुभ का अनन्तगुण अधिक रसबध होता है।

श्रेणि पर से गिरता जीव मोहनीय-प्रकृतियो को गुणश्रेणि काल की अपेक्षा वेद्यमान सज्वलन के काल से अधिक काल वाली बनाता है और चढने के काल की गुणश्रेणि की अपेक्षा तुल्य बनाता है। जिस कषाय के उदय से उपशम श्रेणि पर आरूढ हुआ था, गिरते समय जब उस कषाय

का उदय होता है तब उस कषाय की गुणश्रेणि शेष कर्म की गुणश्रेणि के समान करता है।

तीन आयु के बिना देवायु को बाधकर अथवा किसी भी आयु को बाधे बिना आत्मा उपशम श्रेणि कर सकती है, इसलिये यदि बद्धायुष्क उपशम श्रेणि करे और उपशम सम्यक्त्व के काल मे चाहे किसी भी गुणस्थान मे काल करे तो अवश्य वैमानिक देव मे ही उत्पन्न होता है और यदि अबद्धायुष्क हो तो अन्तरकरण पूर्ण होने के बाद यानि उपशम सम्यक्त्व का काल पूर्ण होने के बाद परिणामो के अनुसार चार मे से किसी भी आयु को बाधकर काल कर उस-उस गति मे जाती है।

एक बार एक भव मे उपशम श्रेणि कर दूसरी बार क्षपक श्रेणि कर आत्मा मोक्ष मे भी जा सकती है और यदि क्षपक श्रेणि न करे तो एक भव मे दो बार उपशम श्रेणि कर सकती है परन्तु दो बार उपशम श्रेणि करने के बाद उसी भव मे क्षपक श्रेणि नही कर सकती है। सम्पूण भव चक्र मे उपशम श्रेणि चार बार कर सकती है परन्तु सिद्धान्त के मतानुसार एक भव मे क्षपक अथवा उपशम इन दोनो मे से एक ही श्रेणि कर सकती है जिससे एक भव मे उपशम श्रेणि की हो तो उस भव मे क्षपक श्रेणि नही कर सकती है।

इस प्रकार पुरुषवेद के उदय मे श्रेणि पर आरूढ होने वाले की अपेक्षा जानना चाहिए। परन्तु स्त्रीवेद के उदय मे श्रेणि माडने वाला पहले नपुसक वेद को उपशमित करता है। उसके बाद एक उदयसमय को छोडकर सम्पूण स्त्रीवेद को उपशमित करता है और स्त्रीवेद के उदय के विच्छेद के साथ ही पुरुषवेद का बधविच्छेद होता है। उसके बाद के समय मे अवेदक हुआ वह आत्मा हास्यषट्क और पुरुषवेद इन सात प्रकृतियो को एक साथ उपशमित करता है।

नपुसकवेद के उदय से श्रेणि माडने वाला पहले पुरुषवेद अथवा स्त्रीवेद से श्रेणि माडने वाला जिस स्थान पर नपुसकवेद को उपशमित करता है, वहाँ तक तो मात्र नपुसकवेद को उपशमित करने की क्रिया करता है, परन्तु नपुसकवेद का अमुक उपशम होने के बाद उसके साथ ही स्त्रीवेद को भी उपशमित करने की क्रिया करता है और नपुसकवेद के उदय के चरम समय मे

नपुसकवेद तथा स्त्रीवेद दोनो एक साथ सम्पूर्ण उपशात हो जाते है और उसी समय पुरुषवेद का बन्धविच्छेद होता है और बाद के समय से अवेदक होकर हास्यषटक् और पुरुषवेद इन सात प्रकृतियो को एक साथ उपशमित करता है। उसके बाद तो पुरुषवेदोदय मे श्रेणी पर आरूढ होने वाला क्रोधादि को जैसे उपशमित करता है, उसी प्रकार यहाँ भी उपशात करता है।

इस प्रकार से चारित्र मोहनीय की सर्वोपशमना विधि जानना चाहिये। प्रस्तुत कथन विहगावलोकनमात्र है। विस्तृत वर्णन ग्रथ मे देखिये।

□□

परिशिष्ट : ६

भिन्न कषाय एवं वेद के उदय से श्रेणिआरोहण क्रम

सज्वलन क्रोधोदय द्वारा—

सज्वलन क्रोध का वेदन करते हुए क्रोधत्रिक को, तदनन्तर मानत्रिक को (क्रोधवत्), तदनन्तर मायात्रिक को, तदनन्तर लोभत्रिक को उपशमित करता है।

सज्वलन मानोदय द्वारा—

सज्वलन मान का वेदन करते हुए क्रोधत्रिक को (नपुसक वेदवत्), तदनन्तर मानत्रिक को, तदनन्तर मायात्रिक को, तदनन्तर लोभत्रिक को उपशमित करता है।

सज्वलन मायोदय द्वारा—

सज्वलन माया का वेदन करते हुए पहले क्रोधत्रिक को, तदनन्तर मानत्रिक को, तदनन्तर मायात्रिक को, तदनन्नर लोभत्रिक को उपशमित करता है।

सज्वलन लोभोदय द्वारा—

सज्वलन लोभ का वेदन करते पहले क्रोधत्रिक को, तदनन्तर मानत्रिक को, तदनन्तर मायात्रिक को और तदनन्तर लोभत्रिक को उपशमित करता है।

पुरुपवेदोदय से श्रेणि-आरभक की अपेक्षा—

सर्वप्रथम नपुसकवेद को उपशमित करता है, उसके बाद अन्तर्मुहूर्त के अनन्तर स्त्रीवेद को, तत्पश्चात एक समय के अनन्तर पुरुपवेद, हास्यपट्क की उपशमना का प्रारम्भ। उसके बाद हास्यपट्क का उपशम होता है और पुरुपवेद की एक स्थिति शेप रहती है। तत्पश्चात पुरुपवेदोदय की उपशान्ति, तत्पश्चात उदयावलिका और समयोन आवलिकाद्विकबद्ध को छोडकर समस्त पुरुपवेद का उपशम होता है।

स्त्रीवेदोदय से श्रेणि-आरम्भक की अपेक्षा—

सर्वप्रथम नपुसकवेद को, तत्पश्चात स्त्रीवेद को उपशमित करता है। उसके बाद समयानन्तर पुरुषवेद, हास्यषट्क की उपशमना का प्रारम्भ होता है और उसके बाद की शेष विधि पुरुषवेदवत् समझना चाहिये।

नपुसकवेदोदय से श्रेणि-आरम्भक की अपेक्षा—

सर्वप्रथम नपुसकवेद की उपशमना प्रारम्भ होती है, उसके बाद नपुसक और स्त्रीवेद को उपशमित करता है, तदनन्तर स्त्रीवेद उपशान्त होता है और नपुसकवेद की एक स्थिति अवशिष्ट रहती है। उसके बाद समयानन्तर नपुसकवेद उपशमित हो जाता है। उसके बाद समयानन्तर पुरुषवेद हास्य-षट्क की उपशमना प्रारम्भ होती है। शेष विधि पुरुषवेदवत् समझना चाहिये।